सन्धान-कवि

धनञ्जय की काव्य-चेतना

891.21
H Dha/Rus

लेखक
बिशन स्वरूप रुस्तगी

Dr. V. B. Alias Bhausaheb Kolte Library
Nagpur University
339244
12.9.2002

ईस्टर्न बुक लिंकर्स
दिल्ली :: भारत

प्रकाशक :
ईस्टर्न बुक लिंकर्स
5825, न्यू चन्द्रावल, जवाहरनगर,
दिल्ली-110007
फोन : 3970287

प्रथम संस्करण : 2001

© लेखक

मूल्य : 400.00

I.S.B.N. : 81-86339-58-2

अक्षरयोजक तथा मुद्रक
शाम प्रिंटिंग एजेन्सी
दिल्ली-110009

प्राक्कथन

संस्कृत साहित्य के विकास में महाकाव्य-विधा का एक महत्वपूर्ण योगदान रहता आया है। भारतीय संस्कृति और समाज चेतना के संवर्धन में जहाँ एक ओर रामायण, महाभारत जैसे विकसनशील महाकाव्यों में समूचे युग को अवतरित करने में समर्थ व्यापक कवि-दृष्टि और अद्भुत सर्जनात्मक प्रतिभा की प्रभावशाली भूमिका रही, वहाँ दूसरी ओर अश्वघोष तथा कालिदास की कला-दृष्टि ने स्वयं कविता को सविलास कर सौन्दरनन्द, रघुवंश, कुमारसम्भव जैसे अलंकृत शैली के महाकाव्यों के रचना-पथ का उद्घाटन किया। कालिदास के बाद युगीन समाज मूल्यों की अपेक्षा से संस्कृत कविता को नवीन आयाम मिले। कविता के कलेवर में ही नहीं, उसकी अन्तः प्रकृति में भी परिवर्तन आया। भारवि ने किरातार्जुनीय के प्रणयन से महाकाव्य की एक नयी पद्धति का सूत्रपात कर दूसरे ही युग का आरम्भ किया। जैन कवि धनञ्जय का द्विसंधान-महाकाव्य इसी युग की उपलब्धि है।

सन्धान-कवि धनञ्जय कृत द्विसन्धान-महाकाव्य कृत्रिम काव्य-मूल्यों से अनुप्रेरित एक उत्कृष्ट श्लेष-काव्य माना जाता है। सातवीं-आठवीं शताब्दी के उपरान्त भारतीय काव्य-चेतना में शब्दाडम्बर, चित्रपरकता और तत्कालीन सामन्ती जनजीवन को महत्व देने की जो प्रवृतियाँ लोकप्रिय होती जा रही थीं, उन्हीं पृष्ठभूमियों से धनञ्जय कृत द्विसन्धान-महाकाव्य का कलेवर अतिरंजित है और इसमें रामकथा एवं पाण्डवकथा को एक साथ उपनिबद्ध करने का दुःसाध्य आग्रह भी फलीभूत हुआ है। भारवि ने चित्रकाव्य और शब्दक्रीडा के जो मानदण्ड उपस्थापित कर दिये थे, उसी का चरम विकास द्विसन्धान जैसे महाकाव्यों में देखा जा सकता है।

जैन संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में नानार्थक काव्य-शैली के अन्तर्गत द्विसन्धान-महाकाव्य सर्वप्रथम महाकाव्य है। इसका अपर नाम 'राघवपाण्डवीय' भी है। द्विसन्धान-महाकाव्य की कथा की प्रेरणा के मूल स्रोत रामायण की

'रामकथा' और महाभारत की 'पाण्डवकथा' हैं। कवि ने श्लेषादि अलंकारों द्वारा समानान्तर रूप से रामकथा एवं पाण्डवकथा का सफल विन्यास किया है, जिसके परिणामस्वरूप जैन महाकाव्य परम्परा 'सन्धान-महाकाव्य' की एक नवीन विधा का समारम्भ कर सकी है और सन्धान-कवि धनञ्जय इस परम्परा के आदि कवि बन गये। कालान्तर में यह सन्धान परम्परा त्रिसन्धान, चतुस्सन्धान, पंचसन्धान, सप्तसन्धान और चतुर्विंशतिसन्धान के रूप में पल्लवित और पुष्पित हुई।

प्रस्तुत ग्रन्थ दिल्ली विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिये सन् १९८९ में स्वीकृत शोध-प्रबन्ध "धनञ्जय कृत द्विसन्धान-महाकाव्य : एक अध्ययन" का अंशतः परिवर्द्धित एवं संशोधित रूप है। इस ग्रन्थ में द्विसन्धान-महाकाव्य के साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन का विनम्र प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में सन्धान-महाकाव्यों के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य तथा उसकी काव्य-परम्पराओं से सम्बद्ध विवेचन प्रस्तुत है। द्वितीय अध्याय में द्विसन्धान-महाकाव्य के कर्ता धनञ्जय के काल, उसके व्यक्तिगत परिचय तथा उसकी कृतियों आदि का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। तृतीय अध्याय में द्व्यर्थक सन्धान-काव्य विधा की पृष्ठभूमि में आलोच्य महाकाव्य के सन्धानत्व तथा उसकी कथा-वस्तु का विवेचन है। चतुर्थ अध्याय में संस्कृत काव्यशास्त्रीय महाकाव्य-लक्षणों की पृष्ठभूमि में आलोच्य महाकाव्य की सर्गबद्धता, कथानक, कथानक का आधार, कथानक-व्यवस्था, अवान्तर कथा योजना इत्यादि शिल्प-वैधानिक विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। पंचम अध्याय में रस-परिपाक का विवेचन प्रस्तुत है। शृङ्गार, वीर, शान्त, करुण, रौद्र, बीभत्स, भयानक आदि रसों की स्थिति का इस अध्याय में विशेष आकलन किया गया है। षष्ठ अध्याय अलंकार-विन्यास से सम्बद्ध है। इसमें शब्दालंकारों, अर्थालंकारों तथा चित्रालंकारों की विशेष चर्चा उपलब्ध है। सप्तम अध्याय में लघु, गुरु वर्ण अथवा द्रुत एवं विलम्बित लय के परिचय सहित आलोच्य महाकाव्य में छन्द-योजना के वैशिष्ट्य पर प्रकाश डाला गया है। अष्टम अध्याय को (क)राजनैतिक अवस्था, (ख) आर्थिक स्थिति तथा (ग) सामाजिक परिवेश — तीन भागों में विभक्त कर तत्कालीन सांस्कृतिक मूल्यों का परिशीलन किया गया है। राजनैतिक अवस्था के अन्तर्गत शासन-तन्त्र का स्वरूप, राज्य-व्यवस्था, शासन-व्यवस्था, युद्ध एवं सैन्य-व्यवस्था आदि का विवेचन हुआ है। आर्थिक

स्थिति के अन्तर्गत अर्थव्यवस्था तथा उससे सम्बद्ध उद्योग-व्यवसाय, आवासीय स्थिति, वेशभूषा और खानपान आदि की गतिविधियाँ निबद्ध की गयी हैं। इसके साथ ही धर्म-दर्शन, शिक्षा, कला, ज्ञान-विज्ञान तथा स्त्रियों की स्थिति आदि के विश्लेषण द्वारा युगीन सामाजिक परिवेश पर विचार किया गया है।

अन्त में, सभी अध्यायों में प्रतिपादित तथ्यों का तुलनात्मक दृष्टि से विश्लेषण कर धनञ्जय के द्विसन्धान-महाकाव्य की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक महत्ता को रेखांकित करते हुए ग्रन्थ का "उपसंहार" किया गया है। 'सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची' के अन्तर्गत शोध-प्रबन्ध में उद्धृत सभी ग्रन्थ, पत्र-पत्रिकाएं आदि अपेक्षित विवरणों सहित निर्दिष्ट हैं। शब्दानुक्रमणिका भी संलग्न है।

शोध-प्रबन्ध के प्रस्तुत रूप में आने तक की सुदीर्घ अवधि में मुझे दिल्ली विश्वविद्यालय के निवर्तमान प्रो० सत्यव्रत शास्त्री, संस्कृत विभागाध्यक्ष प्रो० सत्यपाल नारंग तथा पूर्व अध्यक्ष प्रो० ब्रजमोहन चतुर्वेदी तथा प्रो० पुष्पेन्द्र कुमार का आशीर्वाद तथा सत्प्रेरणाएं मिलती रहीं, अत: मैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। प्रो० बलदेव राज शर्मा, संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, डॉ० श्रवण कुमार सिन्हा, रीडर, संस्कृत विभाग, देशबन्धु कॉलेज तथा डॉ० योगेश्वर दत्त शर्मा, रीडर, संस्कृत विभाग, हिन्दू कॉलेज के प्रोत्साहन से मुझे जो सम्बल मिला, तदर्थ मैं उनके प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ।

भारतीय तथा जापानी वाङ्मय के मर्मज्ञ मनीषी तथा जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में जापानी अध्ययन के सूत्रधार, गुरुवर्य प्रो० सत्यभूषण वर्मा ने प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में विशेष रुचि ली, अत: मैं उनके प्रति धन्यवाद प्रकट करता हूँ।

डॉ० मोहन चन्द, रीडर, संस्कृत विभाग, रामजस कॉलेज, दिल्ली मेरे छात्र जीवन से ही अनन्य मित्र हैं। मेरी अधिकांश समस्याओं को हल करने में वे सदैव तत्पर रहे हैं। प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ की समस्या भी उन्हीं के कुशल मार्ग दर्शन से हल हो सकी है। इस सबके के लिए मैं उनका सदैव ऋणी रहूँगा।

संस्कृत विभाग, रामजस कॉलेज के सहयोगी डॉ० रधुवीर वेदालङ्कार, डॉ० शरदलता शर्मा तथा डॉ० प्रदीप्त कुमार पाण्डा की सत्प्रेरणा मुझे मिलती रही है। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, प्राचार्य, रामजस कॉलेज, दिल्ली का प्रोत्साहन भी मेरे साथ रहा है। इसके लिए मैं उनका हृदय से धन्यवाद करता हूँ। आचार्यरत्न श्री देशभूषण

जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ "आस्था और चिन्तन" के प्रबन्ध सम्पादक सम्यक्त्व रत्नाकर श्री सुमत प्रसाद जैन की सत्प्रेरणा के लिए भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ।

इस शोध कार्य की सम्पूर्णता के लिए मुझे अनेक दुर्लभ ग्रन्थ आर्कियॉलाजिकल पुस्तकालय, जनपथ, नई दिल्ली; साहित्य आकादमी पुस्तकालय, मन्डी हाउस, नई दिल्ली; दिल्ली पब्लिक लायब्रेरी, श्यामा प्रसाद मुखर्जी मार्ग, दिल्ली तथा केन्द्रीय सन्दर्भ पुस्तकालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली से प्राप्त हुए हैं। तदर्थ में इन पुस्तकालयों तथा इनके अधिकारियों व कर्मचारियों के प्रति आभारी हूँ। श्री जंगबहादुर खन्ना, असिटैन्ट लायब्रेरियन, दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रति मैं विशेष आभार प्रकट करता हूँ कि उनके निस्वार्थ निरन्तर सहयोग से ही मुझे समय पर पुस्तकें प्राप्त हो सकीं।

मेरे अभिन्न मित्र श्री अरुण कुमार बिन्जू, श्री वाचस्पति मौद्गल्य तथा सुश्री अलका प्रदीप का सतत उत्साहवर्धन इस ग्रन्थ की पूर्णता में एक सोपान बन गया।वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं।

दिवंगत पिता जी की अदृश्य प्रेरणा और आशीर्वाद सदा मेरे साथ रहे हैं, उनके प्रति मैं अपना सादर प्रणाम निवेदन करता हूं। पूजनीय माता जी का वात्सल्यपूर्ण आशीर्वाद जो मुझे सदा मिलता आया है उनके प्रति मैं नतमस्तक हूँ।

अन्त में मैं ग्रन्थ के प्रकाशक श्री श्यामलाल मल्होत्रा का विशेष धन्यवाद प्रकट करता हूं जिनके सौजन्य से इस ग्रन्थ का प्रकाशन हो सका। अमर प्रिंटिंग प्रैस के अधिकारी विशेष रूप से बधाई के पात्र हैं जिनकी निष्ठा और लगन से पुस्तकीय दायित्व का सफल निर्वाह हो पाया है।

बहुत प्रयत्न करने पर भी पुस्तक में अनेक प्रकार की त्रुटियों के रहने की सम्भावना है, अत: तत्त्वग्राही उदार पाठक उन्हें स्वविवेक से सुधारकर ही ग्रहण करेंगे।

दिल्ली, २०.१.२००० **बिशन स्वरूप रुस्तगी**

संकेत सूची

अलं. चिन्ता.	अलंकार-चिन्तामणि
अलं. चू.	अलंकार-चूडामणि
आदिपुराण में.	आदिपुराण में प्रतिपादित भारत
का. कल्प.	काव्यकल्पलतावृत्ति
का. भा.	भामह कृत काव्यालंकार
का. रु.	रुद्रट प्रणीत काव्यालंकार
का. वा.	वामन कृत काव्यालंकारसूत्रवृत्ति
काव्या.	काव्यादर्श
का. हे.	हेमचन्द्र कृत काव्यानुशासन
द्विस./द्विसन्धान.	द्विसन्धान-महाकाव्य
ध्वन्या.	ध्वन्यालोक
ना. शा.	नाट्यशास्त्र
वक्रोक्ति.	वक्रोक्तिजीवित
संस्कृत काव्य के.	संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान
सरस्वती./ सर. कण्ठा.	सरस्वतीकण्ठाभरण
सा. द.	साहित्यदर्पण
E.I.	Epigraphia Indica
E.K.	Epigraphia Karnatika
I.A.	Indian Antiquary

JBBRAS	Journal of Bombay Branch Royal Asiatic Society
J.R.A.S.	Journal of Royal Asiatic Society
Z.D.M.G.	Zeitschrift der Deutschens Morganländischen Gasellshaft

विषयानुक्रमणिका

प्राक्कथन iii-vi

संकेत-सूची vii-viii

विषयानुक्रमणिका ix-xviii

प्रथम अध्याय

सन्धान महाकाव्य : इतिहास एवं परम्परा १-४२

महाकाव्य का उद्भव और विकास

१. सामूहिक नृत्य-गीत

२. आख्यानक नृत्य-गीत

३. लोकगाथा

४. गाथाचक्र

महाकाव्य के विकास की दो धाराएं

१. विकसनशील महाकाव्य

२. अलंकृत महाकाव्य

१. पौराणिक शैली के महाकाव्य

संस्कृत पौराणिक महाकाव्य

प्राकृत पौराणिक महाकाव्य

अपभ्रंश पौराणिक महाकाव्य

(क) रामायण और महाभारत के जैन रूपान्तर

(ख) त्रिषष्टिशलाकापुरुषों के युगपत् जीवन-वृत्त

(ग) पौराणिक पुरुषों के वैयक्तिक जीवन-चरित

२. ऐतिहासिक शैली के महाकाव्य

३. रोमांचक या कथात्मक महाकाव्य

४. शास्त्रीय महाकाव्य

(क) रससिद्ध या रीतिमुक्त महाकाव्य

(ख)रुढिबद्ध या रीतिबद्ध महाकाव्य

(ग) शास्त्रकाव्य और सन्धानकाव्य

निष्कर्ष

द्वितीय अध्याय

महाकवि धनञ्जय : व्यक्तित्व एवं कृतित्व ४३-६७

धनञ्जय का काल

१. डॉ. के. बी. पाठक का मत (११२३-१२४० ई.), डॉ. पाठक के समर्थक साहित्यिक इतिहासकार, डॉ. पाठक के मत की समीक्षा

२. डॉ. भण्डारकर का मत (९९६-११४७ ई.), डॉ. भण्डारकर के मत की समीक्षा

३. ए. वेंकटसुब्बइया का मत (९६०-१००० ई.)

४. डॉ. ए. एन. उपाध्ये का मत (लगभग ८०० ई.), डॉ. वी. वी. मिराशी द्वारा पूर्व मतों की समीक्षा

५.डॉ. वी. वी. मिराशी का मत (लगभग ८०० ई.)

धनञ्जय का व्यक्तित्व

धनञ्जय की कृतियाँ

१. विषापहार-स्तोत्र

२. नाममाला

३. अनेकार्थनाममाला

४. यशोधरचरित

५. द्विसन्धान-महाकाव्य

द्विसन्धान-महाकाव्य की टीकाएं

१. पद-कौमुदी

२. बद्रीनाथ कृत टीका

३. पुष्यसेन कृत टीका

४. राघवपाण्डवीयप्रकाशिका

द्विसन्धान-महाकाव्य : तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य

रघुवंश और द्विसन्धान-महाकाव्य

मेघदूत और द्विसन्धान-महाकाव्य

अभिज्ञान-शाकुन्तल एवं द्विसन्धान-महाकाव्य

शिशुपालवध तथा द्विसन्धान-महाकाव्य

निष्कर्ष

तृतीय अध्याय

द्विसन्धान-महाकाव्य का सन्धानात्मक शिल्प-विधान ६८-९२

सन्धान-काव्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ

द्विसन्धान-महाकाव्य की कथावस्तु

द्विसन्धान-महाकाव्य का सन्धानात्मक शिल्प-विधान

१. श्लेषमूलक सन्धान-विधि

(क) प्रकरण-समानता (प्रकरणैक्येन)

(ख) विशेषण-विशेष्यता (विशेषण-विशेष्ययो:)

(ग) उपमान-उपमेयता (उपमान-उपमेययो:)

(घ) पदार्थ वैविध्य (पदैश्च नानार्थै:)

(ङ)वक्रोक्ति-भङ्ग (वक्रोक्ति-भङ्गिभि:)

२. यमकमूलक सन्धान-विधि

(क) पदों की आवृत्ति

(ख) पादों की आवृत्ति

३. चित्रालंकारमूलक सन्धान-विधि

द्विसन्धान शैली से प्रभावित काव्य

निष्कर्ष

चतुर्थ अध्याय

द्विसन्धान का महाकाव्यत्व ९३-११२

द्विसन्धान का महाकाव्यत्व

१. सर्गबद्धता

२. कथानक

३. कथानक का आधार

४. कथानक-व्यवस्था

(i) मुख-सन्धि

(ii) प्रतिमुख-सन्धि

(iii) गर्भ-सन्धि

(iv) विमर्श-सन्धि

(v) निर्वहण-सन्धि

५. अवान्तर-कथा योजना

६. वर्ण्य-विषय

(क) विशद (ख) अविशद (ग) नामोल्लेख

७. अतिप्राकृत और अलौकिक तत्त्व

८. आरम्भ

९. अन्त या समाप्ति

१०. सर्ग-समाप्ति

११. नामकरण

१२. नायक

१३. प्रतिनायक

१४. गौण-पात्र

१५. रस-परिपाक

१६. अलंकार-विन्यास

१७. छन्द-योजना

१८. भाषा

१९.उद्देश्य

निष्कर्ष

पंचम अध्याय

रस-परिपाक ११३-१५०

वीर रस

(क) युद्ध वीर

(ख) दान वीर

(ग) धर्म वीर

(घ) दया वीर

शृङ्गार रस

(१) सम्भोग शृङ्गार

(२) विप्रलम्भ शृङ्गार

करुण रस

रौद्र रस

भयानक रस

बीभत्स रस

शान्त रस

निष्कर्ष

षष्ठ अध्याय

अलङ्कार-विन्यास १५१-१९९

शब्दालङ्कार

(१) अनुप्रास

(२) यमक

(३) श्लेष

(४) वक्रोक्ति

चित्रालङ्कार

(१) वर्ण चित्र

(२) आकार चित्र

(३) गति चित्र

(४) बन्ध चित्र

(५) गूढ चित्र

अर्थालङ्कार

(१) उपमा

(२) रूपक

(३) भ्रान्तिमान्

(४) निश्चय

(५) उत्प्रेक्षा

(६) अतिशयोक्ति

(७) दीपक

(८) दृष्टान्त

(९) व्यतिरेक

(१०) सहोक्ति

(११) अर्थश्लेष

(१२) अर्थान्तरन्यास

(१३) आक्षेप

(१४) विरोध

(१५) विषम

(१६) परिसंख्या

(१७) समुच्चय

(१८) स्वभावोक्ति

(१९) सङ्कर

निष्कर्ष

सप्तम अध्याय

छन्द-योजना २००-२०९

संस्कृत काव्य-साहित्य में लय

छन्द और भाव गाम्भीर्य

लयों और वर्णों में अभिव्यक्त विविध भाव

रसानुरूप छन्द-योजना

द्विसन्धान-महाकाव्य में छन्द-योजना

(क) समवृत्त

(ख) अर्धसमवृत्त

(ग) विषमवृत्त

निष्कर्ष

अष्टम अध्याय

द्विसन्धान-महाकाव्य का सांस्कृतिक परिशीलन २१०-२६४

(क) राजनैतिक अवस्था

द्विसन्धान-महाकाव्य की युगीन राजनैतिक परिस्थितियाँ–

सप्ताङ्ग राज्य

षड्विध बल

त्रिविध शक्तियाँ

षाड्गुण्य

चतुर्विध उपाय

राज्यव्यवस्था–

सामन्त-व्यवस्था

राजा के गुण

कर्तव्य और उत्तरदायित्व

उत्तराधिकार
राज्याभिषेक
कोष-संग्रहण
शासन व्यवस्था–
युद्ध एवं सैन्य व्यवस्था
आयुध
वाद्ययन्त्र
(ख) आर्थिक स्थिति
अर्थव्यवस्था–
वर्णव्यवस्था और आर्थिक विभाजन
उद्योग व्यवसाय–
१. कृषि उद्योग
२. वृक्ष उद्योग
३. पशुपालन उद्योग
४. वाणिज्य व्यवसाय
५. शिल्प व्यवसाय
आवासीय स्थिति—
ग्रामों का स्वरूप
नगर तथा नगर-जीवन
वेशभूषा एवं खानपान
(ग) सामाजिक परिवेश
धर्म-दर्शन—
पंचपरमेष्ठी पूजन
विजयोत्सवों पर पूजा-विधान
संस्कार-विधान
कोटिशिला-माहात्म्य

जैन दर्शन—
द्रव्य
मोक्ष
मोक्ष-मार्ग
सम्यग्दर्शन
शिक्षा, कला, ज्ञान-विज्ञान —
आयुर्वेद
सामुद्रिक शास्त्र
शकुन शास्त्र
स्वप्न शास्त्र
कुमारभृत्य
स्त्रियों की स्थिति —
स्त्री भोग-विलास और मदिरापान
कामकला-नैपुण्य
वेश्या व नर्तकी
सौन्दर्य-प्रसाधन
आभूषण
निष्कर्ष
उपसंहार २६५-२७१
सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची २७२-२७९
शब्दानुक्रमणिका २८०-३०६

से थोड़े बहुत गढ़े हुए प्रतीत होते हैं कि उनका अर्थ या रूप या तो केवल समझने की भूल से या कुछ अवस्थाओं में केवल पढ़ने की भूल से ही निष्पन्न हुआ है। इन द्व्यर्थक काव्यों जैसे ग्रन्थों की पद्धति का प्रारम्भ सुबन्धु और बाण के शब्दकोश से हुआ"।[१]

एम. विन्टरनित्ज़[२], सुधीरकुमार गुप्त[३], एस. के. डे[४], जूथिका घोष[५] तथा खुशालचन्द गोरावाला[६] आदि ने भी इसी प्रकार के मन्तव्य प्रस्तुत किये हैं, किन्तु वी. राघवन्[७] ने इस युग का संक्षिप्त इतिहास भी प्रस्तुत किया है—"श्लेष चित्रकाव्य का एक प्रकार होने से काव्य की अन्य विशेषताओं में भी सहायक है, चूँकि चित्र-कवियों के हाथ में यह एक लाभदायक अस्त्र है, अतएव जब ये इसका प्रयोग एक सीमा में रहकर करते हैं, तब ये श्लेष बड़े सटीक हो जाते हैं। अत: महाकवियों ने इनका प्रयोग अतिपरिमितता तथा सरलता से किया है"।

यह उपचार, संधि तथा समासोक्ति में भी सहायक है। यह नीतिशास्त्र के प्रभाव-युक्त सिद्धान्त भी व्यक्त कर सकता है। उदाहरणस्वरूप कविराक्षसीय तथा वेदान्तदेशिक कृत सुभाषितनीवि आदि ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं। यह बौद्धिकता तथा रसिकता को भी उत्तेजित करता है। यह वक्रोक्ति का भी सहायक है अर्थात् दो व्यक्ति जिनके आपसी सम्बन्ध अच्छे नहीं हैं या जो एक दूसरे की वाक्शक्ति पराजित करना चाहते हों, उनके प्रश्नों के उत्तरों के रूप में। यथा -मुद्राराक्षस की नान्दी में जहाँ शिव पार्वती के प्रश्नों को ऊपर ही नहीं उठने देते। इसी प्रकार रत्नाकर का 'वक्रोक्ति-पंचशिक' है जो इस विधि को आदि से अन्त तक अपनाये हुए है।

---

१. ए.बी.कीथ : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. १७१
२. एम. विन्टरनित्ज़ : ए हिस्ट्री आफ इन्डियन लिटरेचर, भाग ३, पृ. ६२
३. एस. के. गुप्त : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. १०७
४. एस. के. डे: ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ. ३३५-३६
५. जूथिका घोष : एपिक सोर्सिज़ आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ. २०
६. खुशालचन्द गोरावाला: द्विसन्धान-महाकाव्य का प्रधान सम्पादकीय, पृ. १९
७. वी. राघवन्: संस्कृत लिटरेचर, पृ. ११२-११४

हैं। इस प्रकार द्विसन्धान-महाकाव्य के शिल्पवैधानिक विकास की कड़ी महाकाव्य परम्परा के उद्‌भव एवं विकास की प्रवृत्तियों से जुड़ी हुई है। द्विसन्धान-महाकाव्य अपने पूर्ववर्ती रघुवंश, कुमारसम्भव आदि अलंकृत शैली के महाकाव्यों के समान जहाँ कथानक स्रोत के रूप में रामायण की कथा को ही अंगीकार करती है अथवा सप्तसन्धान की कथा जैन पुराणों से गृहीत है, वहाँ दूसरी ओर इन कृतियों का काव्यक्रीड़ा अथवा आलंकारिक चमत्कृति को प्रश्रय देना मुख्य प्रयोजन रहा है। इस प्रकार समाजशास्त्रीय दृष्टि से सामाजिक आदर्श स्थापनाहेतु निर्मित महाकाव्य विकास के विकसनशील महाकाव्य इन अलंकार प्रधान महाकाव्यों के उपजीव्य हैं।

द्विसन्धान-महाकाव्य इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जो मूलतः महाकाव्य के परम्परा से जुड़ा होने पर भी अपने युग की काव्य चेतना को श्लेष-काव्य का स्वरूप देकर प्रस्तुत करता है। इस प्रकार पुरातन और नवीन काव्य मूल्यों का सामंजस्य प्रस्तुत करते हुए इस महाकाव्य के लेखक ने एक ऐसी कृति का प्रणयन किया, जिसमें साहित्य का समाजधर्मी पक्ष तो सबल है ही, समसामयिक काव्यधर्मी पक्ष का भी उसमें प्रतिनिधित्व हुआ है। इसी तथ्य का विशदीकरण इस अध्याय में किया गया है, जिसमें द्विसन्धान-महाकाव्य के सन्दर्भ में महाकाव्य परम्परा व इतिहास की पृष्ठभूमि का संक्षेप में सर्वेक्षण प्रस्तुत करते हुए सन्धानात्मक काव्य शैली की उल्लेखनीय विशेषताओं को स्पष्ट किया गया है।

भारतीय महाकाव्य का विकास वेदकालीन इतिहास-पुराण-आख्यान की परम्परा से माना जाता है। इसका आरम्भिक रूप वैदिक आख्यानों और दान-स्तुतियों में दृष्टिगोचर होता है। सामान्यतया महाकाव्य शब्द का प्रयोग आजकल दो अर्थों में होने लगा है, एक—अंग्रेजी के 'इपिक' शब्द के अर्थ में और द्वितीय—प्राचीन आलंकारिक आचार्यों द्वारा प्रयुक्त 'सर्गबद्ध काव्य' के अर्थ में। साधारणतः यूरोपीय पण्डितों ने भारतीय 'महाकाव्य' को 'इपिक' कहकर केवल दो ग्रन्थों की चर्चा की है—महाभारत की और रामायण की।[१]

---

१. डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी : संस्कृत के महाकाव्यों की परम्परा, 'आलोचना', अंक १, दिल्ली, १९५१, पृ.९

महाकाव्य का उद्भव और विकास

महाकाव्य विकास की प्रारम्भिक पृष्ठभूमि लोकगीतों अथवा मौखिक अनुश्रुतियों के रूप में संरक्षित रही है। इस अवस्था में उसमें निरन्तर परिवर्तन होते रहे हैं। इन परिवर्तनों अर्थात् विकास के क्रम को जानने के लिये महाकाव्य की निम्नलिखित पूर्वावस्थाओं की सम्भावना की गयी है[१]—

(१) सामूहिक नृत्य-गीत (Choral Music and Dance)

(२) आख्यानक नृत्य-गीत (Ballad Dance)

(३) लोक-गाथा (Laze and Ballads)

(४) गाथा-चक्र (Cycle of Ballads)

(१) सामूहिक नृत्य-गीत (Choral Music and Dance)

आदिम अवस्था में कबीले अपनी प्रसन्नता, उत्साह, शोक तथा धार्मिक भावनाओं की अभिव्यक्ति सामूहिक रूप में करते थे। यह भावाभिव्यक्ति सामूहिक नृत्य-गीत के रूप में होती थी।[२] आज भी आदिम जातियों में इस प्रकार के सामूहिक नृत्य-गीत की प्रथा प्रचलित है। स्काटलैण्ड और फ्रान्स में सामूहिक नृत्य-गीत को पहले "कैरोल" कहा जाता था।[३] इटली में उसका नाम 'बैलारे' था।[४] बैलेड का मूल स्रोत यह 'बैलारे' ही है।[५] भारत के मिर्जापुर जिले में आदिवासियों के 'करमा' और 'शैला' नृत्य 'सामूहिक नृत्य-गीत' ही हैं।

---

१. डॉ. शम्भूनाथ सिंह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, वाराणसी, १९६२, पृ. ४

२. Gummere, F.B. : A Handbook of Poetics, p.9

३. "The fashion of dancing and singing caroles on the Saints, vigils (wake-nights) is proved by many pieces of evidence." Ker, W.P. : Form and Style in Poetry (Ed. Chambers, R.W.), London, 1966, p. 10.
विशेष द्रष्टव्य—The Funk and Wagnalls Standard Dictionary of Folklore, Mythology and Legend, Vol. I, New York, 1949, pp. 193-95.

४. "The names ballad, ballade, ballet are derived from the late Latin and Italian "ballare-to dance", Shipley, Joseph T. : Dictionary of world Literary Terms, Boston, 1970, p. 25.

५. Encyclopaedia Britannica, Vol. 2, p.645.

(२) **आख्यानक नृत्य-गीत** (Ballad Dance)—

सामूहिक नृत्य-गीतों से आख्यानक नृत्य-गीतों को स्वर मिला। नृतत्त्व-शास्त्रियों और समाजशास्त्रियों का यह अनुमान है कि उसमें सामूहिक नृत्यों के अवसर पर कुछ थोड़े से, बहुधा अर्थहीन शब्दों की आवृत्ति, स्वरालाप, सम्बोधन और विस्मयादिबोधक शब्द प्रयुक्त होते थे। गाने के साथ ही वे लोग पादसंचालन भी करते थे, जिसमें सामंजस्यपूर्ण गति होती थी। यह पादसंचालन की गति ही उनके गीत के स्वर नियत करती थी, जिससे गीत में भी लय और ताल की योजना स्वत: हो जाती थी।[१] इस प्रकार सामूहिक नृत्यगीत से ही नृत्य, संगीत और काव्य का विकास हुआ। शनै: शनै: चेतना के विकास और धार्मिक या अन्य प्रकार की प्रवृत्तियों के उदय के साथ गीत में सार्थक शब्दों का प्रयोग भी होने लगा तथा एक गीत में किसी एक भावना, प्रार्थना, घटना या कथा का वर्णन किया जाने लगा। कालान्तर में नृत्यगीत के साथ भावनापरक वर्णनों के संयोजन से गीति (Lyric), प्रार्थनापरक वर्णनों के संयोजन से स्तोत्र (Hymn) और घटना या कथा सम्बन्धी वर्णनों के संयोजन से आख्यानक नृत्य-गीत विकसित हुए। कालान्तर में ये काव्यरूप सामूहिक नृत्यगीत से पूर्णत: स्वतन्त्र हो गये, यद्यपि नृत्य अथवा संगीत से उनका सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप में बना रहा।[२]

फेरो द्वीप में सतरहवीं शती तक नृत्य के साथ आख्यानक काव्य और वीर-गीति का गान होता था।[३] आइसलैण्ड में नृत्य के साथ प्राचीन काल से आख्यानक काव्य का गान होता आ रहा है।[४] इंग्लैण्ड में भी राबिनहुड जैसी वीरगाथाओं का नृत्य में उपयोग होता था।[५] भारत के जौनपुर जिले मे आख्यानक नृत्य-गीत शैली

---

१. "To this God and assembled multitudes sang a hymn, at first merely a chorus, exclamation and incoherent chant full of repetitions. As they sang, they kept time with the foot in a solemn dance which was inseparable from the chant itself and governed the words." Gummere, F.B. : A Handbook of Poetics. p.9.

२. हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, बनारस, सं. २०१५, पृ. ४२२-२३

३. Ker, W.P. : Form and Style in Poetry, p.10.

४. वही, p.9,10

५. The Encylopaedia Americana, Vol. III, 1958, p.95.

कहारों के 'चौरसिया' नृत्य के रूप में आज भी सुरक्षित है। रामलीला तथा रासलीला को भी प्राचीन आख्यानक नृत्य-गीत का परिष्कृत अथवा अवशिष्ट रूप माना जा सकता है, क्योंकि भारत में रामायण और महाभारत की कथाओं का अभिनय करने की प्रथा बहुत पहले से विद्यमान रही है। पतञ्जलि तो महाभाष्य में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि शौभिक लोग 'कंस-वध' और 'बलिबन्ध' के आख्यानों का प्रदर्शन करते थे।[१]

(३) लोकगाथा (Ballads) –

लोकगाथा अंग्रेजी के 'बैलेड' शब्द का समानार्थी है। 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' के अनुसार इंग्लैण्ड में 'बैलेड' उस काव्यरूप का नाम है, जिसमें सीधे-सादे शब्दों में कोई सीधी, सरल कथा कही गयी हो।[२] प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् W.P. Ker के मतानुसार Ballad वह कथात्मक गेय काव्य है, जो या तो लोककण्ठ में ही उत्पन्न और विकसित होता है या लोकगाथा के सामान्य रूप-विधान को लेकर किसी विशेष कवि द्वारा रचा जाता है। इसमें गीतात्मकता (Lyrical quality) और कथात्मकता, दोनों होती हैं और इसका प्रचार जन-साधारण में मौखिक रूप में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में होता रहता है।[३] Joseph T. Shipley की Dictionary of World Literary Terms के अनुसार Ballad शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में होता है[४]—(१) साहित्य के क्षेत्र

---

१. "ये तावदेते शौभिका नाम एते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति प्रत्यक्षं च बलिं बन्धयन्तीति।' पातञ्जल महाभाष्य, सूत्र ३।१।२६ पर.

२. The Ballad is a short narrative folk song. . . British and American ballads are invariably rhymed and strophic." Encyclopaedia Britannica, Vol.2, Chicago, 1974, p.641.

३. "Ballad" is here taken as meaning a lyrical narrative poem, either popular in its origin or using the common forms of popular poetry and fitted for oral circulation through the whole of a community. Ker, W.P. : Form and Style in Poetry, London, 1966, p.3.

४. "Ballad has various meanings in literary or musical usage. Its literary use is restricted primarily to short

में सीमित और विशिष्ट अर्थ में Ballad मुख्यतः एक लघु कथात्मक और प्रगीतात्मक काव्य का नाम है। (२) सामान्य अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किसी भी ऐसे लघु गीत के लिए होता है, जो हमारी भावात्मक सत्ता का स्पर्श करता है। (३) संगीत के क्षेत्र में भी Ballad शब्द का प्रयोग होता है, जो एकाकी गद्य साहित्य या समवेत किसी भी प्रकार का होता है अथवा जो नृत्य के साथ गाया जाता है। इस प्रकार लोकगाथा मानव-समाज का आदिम साहित्यिक रूप है।[१]

भारतीय महाकाव्य परम्परा के प्रारम्भिक उद्भव की दृष्टि से ऋग्वेद के कुछ संवाद-सूक्तों और नाराशंसी गाथाओं को प्राचीनतम लोकगाथा स्वीकार किया जा सकता है, जिनसे महाकाव्य की पृष्ठभूमि का निर्माण हुआ। यद्यपि संवाद-सूक्तों के कर्ता के रूप में विभिन्न ऋषियों का नाम दिया हुआ है, तथापि ऐसी मान्यता है कि जिस गोत्र के व्यक्ति उन सूक्तों को गाते थे, उन्होंने अपने पूर्वज ऋषियों के नाम उनके कर्ता के रूप में जोड़ दिये। जिन संवाद-सूक्तों को लोकगाथा के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, उनमें यम-यमी सूक्त,[२] पुरुरवोर्वशी सूक्त,[३] अगस्त्यलोपामुद्रा सूक्त,[४] इन्द्र-अदिति-वामदेव सूक्त,[५] इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि

---

simple narratives told lyrically. Popularly, any short song that appeals to sentiment may be termed a ballad; . . . In musical nomenclature, a ballad may be solo, choaral or instrumental, a song of praise or blame, a dance song or merely something singable. Chopin, Liszt, Brahms wrote ballads or ballades for piano and orchestra". Shipley, Joseph T. : Dictionary of World Literary Terms, Boston, 1970, p.25.

१. "The earliest poetry of all races---it is not altogether a conjecture—appears to have been the ballad-dance." Dixon, M. : English Epic and Heroic Poetry, London, 1912, p.28›

२. ऋग्वेद,१०.१०

३. वही,१०.९५

४. वही.१.१७९

५. वही.४.१८

सूक्त,[१] सरमा-पणि सूक्त,[२] इन्द्र-मरुत् सूक्त,[३] विश्वामित्र-नदी सूक्त[४] आदि प्रमुख हैं। पुराणों और महाभारत आदि में भी इस प्रकार की लोकगाथाएं शिष्ट साहित्यिक रूप धारण कर समाविष्ट हो गयी हैं।

पाश्चात्य विद्वानों में ओल्डनबर्ग प्रभृति कतिपय मनीषियों के अनुसार ये आख्यान प्रारम्भ में गद्य-पद्य मिश्रित रहे होंगे। इसका कारण यह रहा होगा कि यूरोपीय परिवार के समस्त पुरातन साहित्य में यह गद्य-पद्यात्मक रूप में दिखायी देते हैं।[५] कीथ इस मत का निराकरण करते हैं। उनके अनुसार वेदों में इस प्रकार के गद्य-पद्य मिश्रित आख्यान उपलब्ध नहीं हैं, यह अनुमानमात्र है।[६] किन्तु, उत्तर वैदिक वाङ्मय में गद्य-पद्यात्मक आख्यान दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरणत: ऐतरेय ब्राह्मण में शुन:शेप[७] तथा शतपथब्राह्मण में पुरुरवोर्वशी[८] आख्यान गद्य-पद्यमय हैं। ऐसे आख्यानों को प्रारम्भ में गाथा या गाथानाराशंसी कहा जाता था। परवर्ती काल में इन्हीं को इतिहास, पुराण तथा आख्यान नाम दिया गया।[९] महाभारत में इतिहास शब्द 'अनुश्रुति' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[१०] वेदों की दान-स्तुतियों का अपरनाम भी नाराशंसी गाथा था। इस प्रकार वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध संवादसूक्त, दानस्तुति अथवा आख्यान (गाथा) आदि को लोकगाथा का प्राचीन रूप स्वीकार किया जा सकता है।

---

१. ऋग्वेद,१०.८६
२. वही,१०.१०८
३. वही,१.१६५
४. वही,३.३३
५. Z.D.M.G., Vol. XXXVII, p.54
६. Keith, A.B. : The Origin of Tragedy and the Akhyan (J.R.A.S., 1912), p.437
७. ऐतरेय ब्राह्मण,७.१५.७
८. शतपथ ब्राह्मण,११.५.१
९. अथर्ववेद,१५.६.१०,११,१२
१०. महाभारत,३.२१.३५

(४) **गाथाचक्र** (Ballad Cycle)—

मौखिक काव्य रूप लोकगाथाओं में कुछ गाथाएँ इतनी लोकप्रिय होती हैं कि वे विभिन्न स्थानों और जातियों में प्रचलित हो जाती हैं। प्रचलित होने के बाद स्थान और काल भेद से उनमें विविध प्रकार के संशोधन और परिवर्धन होने लगते हैं। इसी प्रक्रिया के कारण कोई भी लोकगाथा विभिन्न स्थानों में विविध रूपों में विकसित हो जाती है। मोल्टन ने अपने ग्रन्थ 'वर्ल्ड लिटरेचर' में लिखा है कि लिखित काव्य तो स्थिर हो जाता है, किन्तु मौखिक काव्य वायु में तैरता रहता है और प्रत्येक गाने वाला किसी न किसी गाथा का नया संस्करण तैयार कर देता है।[१] गाथाओं के नवीन संस्करण प्रमुख पात्रों की समानता के कारण कालान्तर में पुनः एक होने लगते हैं। वीरों और सांस्कृतिक पुरुषों के चरित से सम्बन्धित गाथाओं में प्रायः ऐसा देखने में आता है कि इनके गायक अपनी सुविधानुसार किसी भी गाथा में अन्य गाथाओं की कुछ भी बातें मिला देते थे। इनमें जो अधिक लोकप्रिय और प्रभावशाली गाथा होती थी, उसमें अन्य गाथाएं अन्तर्भूत हो जाती थीं। इस गुम्फन-क्रिया में लोक की अपेक्षा चारणों और गायकों का योगदान अधिक रहता था।[२] यह ध्यातव्य है कि गाथाचक्र काव्य नहीं, अपितु काव्य या महाकाव्य की पूर्वावस्था है।[३]

गाथा-चक्र मुख्यरूपेण तीन प्रकार के होते थे—(१) वीर-भावना-प्रधान, (२) रोमांचक तत्त्वों से युक्त प्रेम-भावना-प्रधान और (३) लोक-विश्वासों और निजन्धरी पात्रों से सम्बन्धित तथा धर्म-भावना-प्रधान। इन तीन प्रकार के गाथाचक्रों

---

१. "Oral poetry is a floating literature because apart from writing that gives fixity, each delivering of a poem becomes a fresh edition.", Molton : World Literature, p.102.

२. डॉ.शम्भूनाथ सिंह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, वाराणसी, १९६२, पृ.१०-११

३. "Such a heroic cycle, it will be understood, in not a poem but a state of poetry. . . The cycle has now the chance of growing into an organic epic.", Molton : World Literature, p. 103.

से ही क्रमशः (१) वीर-भावना से युक्त विकसनशील महाकाव्य, (२) रोमांचक महाकाव्य तथा (३) प्राचीन इतिहास-पुराण का विकास हुआ।[१]

वेदों में इन्द्र-सम्बन्धी जितनी गाथाएं या आख्यान हैं, उन्हें गाथाचक्र का पूर्वरूप कहा जा सकता है। वैदिक साहित्य में सुपर्णाध्याय या सुपर्णाख्यान को Winternitz द्वारा गाथाचक्र ही माना गया है।[२] इस आख्यान में कद्रू और विनता की गाथा वर्णित है, जिसका वैदिक साहित्य से लेकर महाभारत आदि तक अनेक ग्रन्थों में उल्लेख हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय इतिहास और पुराण, जिन्हें छान्दोग्योपनिषत् में पंचम वेद[३] कहा गया है, का विकास भी भारतीय गाथाचक्रों के रूप में हुआ है। Winternitz, Pargiter प्रभृति विद्वानों के अनुसार वैदिक काल में ही वैदिक संहिताओं की भाँति इतिहास तथा पुराणों की भी संहिताएं थीं, जो पौराणिक, ऐतिहासिक और निजन्धरी वृत्तों का संग्रह थीं।[४] स्वयं महाभारत भी अनेक गाथाओं और गाथाचक्रों का विशाल भण्डार है।[५]

महाकाव्य के विकास की दो धाराएं

विश्व के सभी देशों में जहाँ महाकाव्य की रचना हुई है, उसकी परम्परा दो धाराओं में विभक्त होकर प्रवाहित होती आ रही है—

(१) मौखिक परम्परा वाली धारा, तथा

(२) लिखित परम्परा वाली धारा।

यद्यपि इन दोनों धाराओं में बहुत अन्तर है, पर वस्तुतः दोनों महाकाव्य की ही धाराएं हैं, क्योंकि दोनों के मूल तत्त्व एक ही हैं। प्रथम धारा के अन्तर्गत आने वाले महाकाव्यों को 'विकसनशील महाकाव्य' और द्वितीय के अन्तर्गत आने वालों को 'अलंकृत महाकाव्य' कहते हैं।

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, बनारस, सं. २०१५, पृ. १८२

२. Winternitz : A HIstory of Indian Literature, Vol. I, p.312.

३. छान्दोग्योपनिषत्, ३.३,४

४. Winternitz : A History of Indian Literature, Vol. I, p. 313 (f.n.4); Pargiter : Ancient Indian Geneologies and Chronologies, p.4.

५. हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, पृ. ५७९

विकसनशील महाकाव्य

विकसनशील महाकाव्य Epic of Growth,[१] Authentic Epic,[२] Folk Epic,[३] Heroic Epic[४] आदि नामों से प्रसिद्ध है। डॉ. श्यामशंकर दीक्षित ने इसका 'संकलनात्मक महाकाव्य' नाम से उल्लेख किया है।[५] इसके अतिरिक्त इसका 'प्रारम्भिक महाकाव्य'[६] तथा 'प्राकृतिक महाकाव्य'[७] नामों से भी उल्लेख मिलता है।

चिरकाल तक विकसित और परिष्कृत होते हुए गाथाचक्र ही विकसनशील महाकाव्य का रूप ग्रहण कर लेते हैं। प्रत्येक जाति और देश में समय-समय पर नये वीर और नयी घटनाएं होती रहती हैं। अतएव, या तो पुराने वीरों की कथा नये वीरों की कथा को आत्मसात कर लेती थी अथवा नये वीरों के सम्बन्ध में ही पुराने वीरों की बहुत-सी बातें प्रचलित हो जाती थीं। दोनों ही अवस्थाओं में अन्य गाथाओं, कथाओं, घटनाओं, वर्णनों का इस प्रकार संयोजन तथा संग्रह होता है कि कालान्तर में गाथाचक्र के मूल रूप को ढूंढ निकालना असम्भव हो जाता है। इस प्रकार प्रारम्भिक गाथाओं से गाथाचक्रों और गाथाचक्रों से विकसनशील महाकाव्य का विकास होता है।[८] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विकसनशील महाकाव्यों का निर्माण एक कवि द्वारा न होकर, एकाधिक कवियों द्वारा होता है। इसके अतिरिक्त ये किसी युग विशेष की रचना नहीं, अपितु विविध युगों में विकास को प्राप्त होकर अन्तिम रूप ग्रहण करते हैं।[९]

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, पृ० ५७९
२. वही, तथा–Siddhanta, N.K. : The Heroic Age, p.70.
३. Watt, H.A. and Watt, W.W. : A Dictionary of English Literature, New York, 1952, p.355.
४. Siddhant, N.K. : The Heroic Age, p.70.
५. डॉ. श्यामशंकर दीक्षित : तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के जैन-संस्कृत-महाकाव्य, जयपुर, १९६९, पृ. ४९
६. हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, पृ. ५७८
७. वही, पृ. ५७९
८. डॉ. शम्भूनाथ सिंह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, बनारस, १९६९, पृ. १
९. Ker, W.P. : Epic and Romance, New York, 1957, p.13.

भारतीय महाकाव्य के सन्दर्भ में ऋग्वैदिक संवाद-सूक्तों के आधार पर ही सम्भवत: ओल्डनबर्ग ने यह अनुमान किया है कि भारतवर्ष में महाकाव्य का प्राचीनतम रूप गद्य-पद्य मिश्रित था, जिसमें पात्रों के संवाद तो पद्य में होते थे, किन्तु उन संवादों से सम्बन्धित घटनाओं का वर्णन गद्य में किया जाता था। प्रारम्भ में केवल पद्यों को याद रखा जाता था, घटनाओं से सम्बन्धित वर्णनों को लोग अपने ढंग से कहते थे।[१] मैक्समूलर , सिल्वालेवी, हर्टेल आदि के अनुसार ये संवाद-सूक्त एक प्रकार के नाटक थे।[२] विन्टरनित्ज़ का कथन है कि ऋग्वेद के संवाद-सूक्तों जैसी कविताएं भारतीय साहित्य—महाभारत, पुराण, बौद्ध साहित्य आदि में बहुत अधिक मिलती हैं। अतएव ये संवाद-सूक्त प्राचीन गाथाएं हैं और इन्हीं के संवादतत्त्वों से 'नाटक' तथा आख्यानक तत्त्वों से 'महाकाव्य' का विकास हुआ है।[३]

महाकाव्य के विकास में सामन्त-युग का विशेष योगदान रहा है। आदिम युग में कबीले ही समाज थे, अत: समाज-व्यवस्था में सामूहिकता की प्रवृत्ति प्रमुख थी। इसी सामूहिक प्रवृत्ति के कारण सामूहिक नृत्य-संगीत आदि उनकी धार्मिक तथा सामाजिक अभिव्यक्ति के माध्यम रहे। कालान्तर में मानव-समाज को कृषि-व्यवस्था, पशुपालन, व्यापार आदि का आश्रय लेना पड़ा। अभिप्राय यह है कि मानव-समाज ने सामन्त-युग में प्रवेश किया। इस सामन्त-युग के विकास की तीन अवस्थाएं मानी गयी हैं—(१) प्रारम्भिक सामन्त-युग, (२) मध्य सामन्त-युग तथा (३) उत्तर सामन्त-युग।[४] महाकाव्य की सामग्री सामन्त युग के प्रथम काल में निर्मित हुई और द्वितीय काल में विकसित होकर वह महाकाव्यों के रूप में परिवर्तित होने लगी। इस द्वितीय काल का अन्त होते-होते अलंकृत महाकाव्यों की रचना होने लगी, जो तृतीय काल के महाकाव्यों में अपने उत्कृष्ट रूप में परिणत हुई। सामन्त युग में ही अनेक आन्तरिक और बाह्य प्रभावों के कारण प्राकृत, अपभ्रंश

---

१. Z.D.M.G. Vol. XXXVII (1883), p.54ff and Vol. 39. (1885), p.52ff

२. Winternitz : A History of Indian Literature, Vol. I, Calcutta, 1927, p.102.

३. वही, पृ.१०२-१०३

४. केशवराव मुसलगांवकर : संस्कृत महाकाव्य की परम्परा, पृ.९३

और वर्तमान आर्य भाषाओं का विकास हुआ और उनमें भी विविध विकसनशील तथा अलंकृत महाकाव्यों की रचना हुई।

सामन्त-युग में ही 'प्रारम्भिक वीर-युग' (Heroic Age) तथा 'सामन्ती वीर-युग' (Age of Shivelary) भी दिखायी देते हैं जिनमें विकसनशील महाकाव्य विकसित हुए।[१] ये वीर-युग आदिम समाज व्यवस्था तथा सभ्य समाज व्यवस्था के अन्तराल का काल है। प्रारम्भिक वीर-युग में योद्धाओं और वीरों की पृथक् श्रेणी बन गयी तथा राजतन्त्र व सामन्ततन्त्र की स्थापना हुई। युद्धों में शौर्य प्रदर्शित करने और विजय दिलाने वाला व्यक्ति कबीले का नेता या सरदार बनने लगा। इस युग में यद्यपि व्यक्तिगत वीरता को महत्त्व दिया जाता है, पर वीर व्यक्ति समाज की भावनाओं और शक्ति का प्रतिनिधित्व भी करता है। अभिप्राय यह है कि प्रारम्भिक वीर-युग में सरदार या राजा जातीय गुणों और आकांक्षाओं का प्रतीक होता है। वह समाज का नायक और संचालक होता है और उसके सम्मान में रचित काव्य या आख्यान समाज की सम्पत्ति बन जाते हैं, जिनसे निजन्धरी कथाओं और विकसनशील महाकाव्यों का विकास होता है। इसके विपरीत सामन्ती वीर-युग में राजाओं के पारस्परिक युद्ध समाज के लिये नहीं वरन् अपने लिये होते हैं। सामन्त या सम्राट्, समाज या जाति की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व नहीं करते, यद्यपि उनमें भी वीरता की कमी नहीं होती। इसी युग में, शौर्यपूर्ण गाथाओं के माध्यम से कई शताब्दियों तक केवल मौखिक गाथाओं के रूप में संशोधित, सम्पादित व परिवर्धित होने के पश्चात् विकसनशील महाकाव्य वर्णनात्मक शैली के माध्यम से महाकाव्य के वर्तमान स्वरूप को प्राप्त होते हैं। इसीलिये ये महाकाव्य काव्य-सौष्ठव के प्रति उदासीन रहकर सामाजिक मूल्यों के प्रति सजग रहते हैं।

वीर-युग विश्व के विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न कालों में रहा है। इसी वीर-युग में यूरोप के 'इलियड' (Iliad), 'ओडेसी' (Odyasey), 'बियोवुल्फ' (Beowulf) आदि विकसनशील महाकाव्य विकसित हुए।[२] 'निबेलुंगेनलीड'

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, पृ. ५८० तथा Ker, W.P. : Epic and Romance, New York, 1957, pp. 4-6.

२. Ker, W.P. : Epic and Romance, New York, 1957, pp.13-14.

(Nibelungenlied) तथा फ्रांस का 'सांग ऑफ द रोलां' (Song of the Roland) आदि अन्य देशों में विकसित होने वाले विकसनशील महाकाव्य हैं।[१]

भारतीय वीर-युग ऋग्वेद के काल में ही प्रारम्भ हो गया था। उत्तर वैदिक काल पर्यन्त पहुँचते हुए भारतीय समाज कृषि एवं पशु-पालन के माध्यम से आर्थिक कठिनाइयों पर भी विजय प्राप्त कर चुका था।[२] इसी युग में महाकाव्यों की पृष्ठभूमि का निर्माण भी होने लगा था, ऋग्वेद की इन्द्र-विषयक शौर्यपूर्ण गाथाएं तथा दान-स्तुतियाँ, अथर्ववेद के कुन्ताप मन्त्र एवं शतपथ ब्राह्मण के **पारिप्लव** आख्यान महाकाव्यों के अंकुर बन चुके थे।[३] वेदों और ब्राह्मण-आरण्यकों में आये हुए ऐसे वीर-आख्यान यह सिद्ध करते हैं कि वे वीर-युग की देन हैं। इन्द्र, अश्विन आदि ऋग्वेद के प्रधान वीर हैं। बार्नेट का मत है कि इन्द्र और अश्विन ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, जिन्हें उनकी वीरता के कारण पौराणिक और निजन्धरी रूप प्रदान किया गया।[४] केगी का भी कहना है कि इन्द्र वेदकालीन आर्यों के ऐसे देवता हैं, जो आदर्श व्यक्ति, वीर, नेता, संरक्षक और सम्राट् हैं। वस्तुतः इन्द्र ही वैदिक-काल के महाकाव्य-नायक हैं।[५] महाभारत और रामायण भारतीय वीर-युग के प्रतिनिधि महाकाव्य हैं। इन

---

१. Shipley, Joseph T. : Dictionary of World Literary Terms, Boston, 1970, p.100.

२. मुसलगांवकर : संस्कृत महाकाव्य की परम्परा, पृ.९३

३. Keith, A.B. : A History of Sanskrit Literature, London, 1941, p.41 and Winternitz, M. : A History of Indian Literature, Vol.I, Part I, Calcutta,1959, p.130

४. "Indra and Ashvina at the beginning came to be worshipped because they were heroes, men who were supposed to have wrought marvellously noble and valiant deeds in dime far off days, saviours of the afflicted, champions of the right, and who for this reason were worshipped after death, perhaps even before death, as divine beings and gradually became associated in their legends and the form of their worship with all kinds of other gods." Lionet D. Barnett: Hindu Gods and Heroes, London, 1886, p.25.

५. Kaegi : The Rigveda, London, 1886, p.43.

दोनों में आदिकालीन भारतीय संस्कृति और इतिहास का मर्म सम्पूर्ण रूप में व्यक्त हुआ है और भारतीय इतिहास का आदिकाल उनमें अपनी समूची ज्ञान-राशि और यथार्थ तथा बहुमुखी जीवन-व्यापारों को अभिव्यक्त कर सका है। इनमें भारत के आदिकालीन इतिहास का एक लम्बा युग इस कारण प्रतिबिम्बित होता है कि ये किसी विशेष कवि और सीमित अवधि वाले युग की रचनाएं नहीं हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि ये दोनों इलियड, ओडेसी जैसे भारत के आदि-विकसनशील महाकाव्य हैं।

जैनानुमोदित विकसनशील महाकाव्य

जैन परम्परा में भी पुराण-पुरुषों की मौलिक गाथाएं प्रचलित रही हैं। इन महापुरुषों के सम्यक् चरित्रों में उपलब्ध वीरतापूर्ण गाथाओं, जैन धर्म एवं दर्शन आदि तत्त्वों ने जैन महाकाव्यों को वर्णनात्मक शैली प्रदान की। प्रथमानुयोग अथवा धर्मकथानुयोग सूत्र-साहित्य में त्रिषष्टिशलाकापुरुषों के चरितों के माध्यम से आख्यानों की रनचाएं प्रारम्भ हुईं। जैन परम्परा में प्राचीन आख्यान **पुराण** संज्ञा से अभिहित किये गये हैं।[1] दिगम्बर-परम्परा में एक शलाकापुरुष का वर्णन करने वाले आख्यान को **पुराण** कहा जाता है,[2] यथा—रविषेण कृत पद्मपुराण। श्वेताम्बर-परम्परा में त्रिषष्टिशलाकापुरुषों के चरित का वर्णन करने वाले आख्यान को भी **पुराण** कहा जाता है, यथा—हेमचन्द्र कृत त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित।[3] पुराणों की विषयवस्तु का प्राय: धर्म के साथ प्रगाढ़ सम्बन्ध होता है। इसी कारणवश जैन-परम्परा में पुराण-कथा अन्य काव्यों या महाकाव्यों की अपेक्षा अधिक सत्य एवं प्रामाणिक मानी जाती है।

जैन पुराण यद्यपि पुराणोचित वैशिष्ट्य से युक्त हैं, तथापि वे (अलंकृत) महाकाव्य-शैली से बहुत प्रभावित हैं। हेमन्चन्द्र ने तो अपने त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित पुराण को महाकाव्य संज्ञा से अभिहित भी किया है। इसके अतिरिक्त दिगम्बर तथा श्वेताम्बर परम्परा के अनेक पुराण महाकाव्योचित सामग्री से विशेषत: प्रभावित हैं। परवर्ती अलंकृत-जैन चरितकाव्यों में निबद्ध अधिकांश शलाकापुरुषों के चरित जैन पुराणों से ही अनुप्रेरित हैं। अतएव

---

१. 'पुरातनं पुराणं स्यात्', आदिपुराण, १.२१

२. नेमिचन्द्र शास्त्री : आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, वाराणसी, १९६८, पृ.१८

३. डॉ. मोहनचन्द : जैन संस्कृत महाकाव्यों में भारतीय समाज, दिल्ली, १९८९, पृ.४०

पौराणिक विशेषताओं वाले विमलसूरी कृत पउमचरिय, जिनसेन कृत हरिवंशपुराण, जिनसेन कृत महापुराण, शीलाङ्क कृत चउप्पनमहापुरिसचरिय और हेमचन्द्र कृत त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित जैसे ग्रन्थों को जैन संस्कृति का विकसनशील महाकाव्य कहा जा सकता है।

अलंकृत महाकाव्य

सांस्कृतिक केन्द्रों और राज-दरबारों में शिक्षा और संस्कृति के विकास के साथ-साथ लिखने की प्रथा भी विकसित हुई और काव्य-रचना भी एक विशिष्ट कला के रूप में स्वीकृत हुई। उन केन्द्रों में प्राचीन गाथाओं, कथाओं और गाथाचक्रों को लिपिबद्ध किया गया और इनके गायक चारण आदि सामन्तों के दरबारों में आश्रय पाने लगे। उस वातावरण में वैयक्तिक और सचेत काव्य-रचना का होना स्वाभाविक ही था। कालान्तर में ये शिष्ट काव्य पृथक् विधा के रूप में विकसित होकर अलंकृत तथा जटिल होने लगे। इसी परिवेश में इन्हीं कवियों के माध्यम से अलंकृत महाकाव्य की रचना प्रारम्भ हुई। इन अलंकृत महाकाव्यों के "Epic of Art", "Imitative Epic", "Literary Epic" आदि नाम भी प्रचलित हैं।[१] ये अलंकृत महाकाव्य प्राय: विकसनशील महाकाव्यों अथवा पूर्ववर्ती गाथाचक्रों और इतिहास-पुराणों से ही कथावस्तु लेकर रचे जाते हैं। स्पष्ट ही है कि ये किसी कवि विशेष तथा काल विशेष की रचना होते हैं। इनमें विकसनशील महाकाव्यों की अपेक्षा कृत्रिमता अधिक होती है। अत: काव्य-सृजन इनका मुख्य लक्ष्य होता है और सामाजिक मूल्यों की स्थापना करना गौण। वर्जिल का 'इनीड' (Aeneid) तथा मिलटन का 'पैराडाइज़ लास्ट' (Paradise Lost) आदि पाश्चात्य महाकाव्य[२] तथा अश्वघोष, कालिदास, माघ, भारवि, स्वयंभू, पुष्पदन्त आदि कवियों के महाकाव्य[३] भारतीय परम्परा के अलंकृत महाकाव्यों की शैली के अन्तर्गत आते हैं।

भारतीय साहित्य में सरस कविता का आदि रूप वैदिक काव्य में दृष्टिगोचर होता है। विशेषत: ऋग्वेद के उषा-सूक्त कवि-कल्पना के मनोरम परिणाम हैं। वे

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, पृ. ५७९

२. वही; तथा Shipley, J.T. : Dictionary of World Literary Terms, p. 101.

३. हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, पृ. ५७९

अलंकृति से भी वंचित नहीं हैं। ऋग्वैदिक ऋषियों ने कतिपय अलंकारों का प्रयोग सिद्धहस्त कवियों की भाँति किया है। सम्भवत: उस समय तक कोई निश्चित काव्य- सिद्धान्त तो बन नहीं पाया था, परन्तु उसके बीज वहाँ निहित हैं। इस प्राचीन परम्परा के रहते हुए भी अलंकृत काव्य-शैली ऋग्वेदादि की 'ऋणी' नहीं मानी जा सकती। कारण यह है कि विकसनशील महाकाव्यों पर अवलम्बित अलंकृत महाकाव्यों में काव्य-सौष्ठव के प्रति विशेष आग्रह होता है। इसीलिए इन महाकाव्यों में कलात्मकता और बौद्धिकता का अत्यधिक समावेश तथा नैसर्गिकता का ह्रास होता गया। इस ह्रास को देखकर ही सम्भवत: कतिपय विद्वानों ने इन अलंकृत महाकाव्यों को **अनुकृत महाकाव्य** अथवा **दरबारी महाकाव्य** (Court Epic) संज्ञा से अभिहित किया। डॉ. एस.एन. दासगुप्ता ने अपने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' के प्रथम खण्ड की भूमिका में इस मत का निराकरण किया है कि काव्य-शैली का अर्थ अलंकृत शैली होता है। उनका कथन यह है कि विन्टरनित्ज़ का यह मत कि संस्कृत के **काव्य** का अर्थ प्रयत्नसाध्य, चमत्कार-प्रधान और अलंकारों से बोझिल काव्य है, परवर्ती ह्रासोन्मुख सामन्तयुगीन कवियों के काव्यों के लिये ही सही है, पूर्ववर्ती कवियों—अश्वघोष तथा कालिदास—के काव्यों पर चरितार्थ नहीं किया जा सकता। अत: संस्कृत के सम्पूर्ण काव्य-साहित्य को अलंकृत-काव्य कह देना तर्कसंगत नहीं।[१] इस कथन का सामान्यत: अभिप्राय यह है कि संस्कृत का काव्य-साहित्य प्रारम्भ से ही आडम्बरपूर्ण और रूप-शिल्प प्रधान नहीं था। उसके आरम्भिक महाकाव्य रसात्मक हैं। काव्य-साहित्य को अलंकृत-साहित्य स्वीकार करने वालों के मतानुसार भी **अलंकृत** (Ornate) शब्द से तात्पर्य 'Epic of Art' या 'Artificial' से ही है, जिसका अनुवाद कलात्मक या अनुकृत महाकाव्य किया जाता है। मैकडानल भी पाँचवीं से बारहवीं शती तक के महाकाव्यों को वास्तविक रूप में अनुकृत अथवा शाब्दिक अर्थ में अलंकृत महाकाव्य कहते हैं।[२] जैन परम्परा में **प्रथमानुयोग** के अन्तर्गत आने वाले

---

१. डॉ. एस. एन. दासगुप्ता : ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, खण्ड १, भूमिका, पृ. १४, १५

२. "As the popular epic poetry of Mahabharat was the chief source of the puranas, so the Ramayana, the earliest artificial epic, was succeeded, though after a

पुराणोचित वैशिष्ट्ययुक्त विकसनशील महाकाव्यों से स्रोत ग्रहण कर अनुप्राणित एवं विकसित होने वाले महाकाव्यों को अलंकृत महाकाव्यों की कोटि में रखा जा सकता है।

भारतीय महाकाव्य साहित्य का यदि शिल्प-वैधानिक दृष्टि से विश्लेषण किया जाये तो उसमें वर्णित कथ्य एवं उसकी प्रवृत्ति से सम्बन्धित तत्त्व उसे विभिन्न विधाओं में विभक्त कर देते हैं। इस दृष्टि से महाकाव्य साहित्य को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) पौराणिक शैली के महाकाव्य

महाकाव्य और पुराण का उद्भव और विकास समानान्तर रूप से हुआ है और प्रारम्भ में दोनों का रूप परस्पर मिश्रित था। महाभारत इसका उदाहरण है, इतिहास-पुराण भी है तथा महाकाव्य भी। वस्तुत: महाकाव्य पुराणों के ही परिष्कृत, अलंकृत और अन्वितियुक्त कलात्मक रूप हैं। काव्यशास्त्रियों ने भी महाकाव्य के कथानक का इतिहास-पुराण तथा कथा से उद्भूत होना आवश्यक माना है। श्रीमद्भागवत प्रभृति पुराणों में काव्यात्मकता पर्याप्त मात्रा में वर्तमान है। विन्टरनित्ज़ का कथन है कि भागवत भाषा, शैली, छन्द और कथा की अन्विति... सभी दृष्टियों से एक महत्त्वपूर्ण कृति है।[१] भागवत पुराण और महाभारत की शैली से प्रभावित होकर जिन महाकाव्यों में पौराणिक आख्यानों को कथानक बनाया गया है, वे पौराणिक शैली के महाकाव्य हैं। जैनों ने महाभारत और पुराणों के अनुकरण—पृथक् पुराणों की रचना की; इन्हीं जैन पुराणों से स्रोत ग्रहण कर जैन कवियों ने पौराणिक महाकाव्यों की सर्जना की। पौराणिक शैली से अभिप्राय है कि उसमें पौराणिक-धार्मिक आख्यान होते हैं, कथानक में अन्विति कम होती है,

---

long interval of time, by a number of kavyas, ranging from the fifth to the twelth century." Macdonell, A.A.: A History of Sanskrit Literature, London, 1913, p.326.

१. "Moreover, It is the one purana which, more than any of others bears the stamp of an unified composition and deserves to be appreciated as a literary production on account of its language style and metre." Winternitz : A History of Indian Literature, Vol.I, Calcutta, p.556.

अवान्तर-कथाओं और घटना-वैविध्य की अधिकता होती है, अलौकिक और अप्राकृत तत्वों का अधिक उपयोग हुआ रहता है, कथा के मध्य कथा कहने और संवाद रूप में कथा को उपस्थित करने की प्रवृत्ति होती है, साथ ही उपदेश देना या किसी मत विशेष का प्रचार करना उद्देश्य होता है। पुराणों के सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित—पाँच विषय होते हैं। पौराणिक शैली के महाकाव्यों में इनमें से एकाधिक विषय ग्रहण किये जाते हैं। पुराणों की भाँति उनमें भी कथा कहना लक्ष्य होता है तथा उनकी शैली सहज एवं सरल होती है।

पौराणिक शैली के महाकाव्य संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश तीनों भाषाओं में निबद्ध हुए हैं—

संस्कृत पौराणिक महाकाव्य

संस्कृत में पौराणिक शैली के महाकाव्य दसवीं शती के अनन्तर विशेष रूप से मिलते हैं। दसवीं शती के पूर्व आठवीं शती में जिनसेन ने **आदिपुराण** और गुणभद्र ने **उत्तरपुराण** की रचना की थी और जटासिंह नन्दि ने **वराङ्गचरित** में ३१ सर्गों में वराङ्ग की जैन पौराणिक कथा लिखी थी। ग्यारहवीं शती में कश्मीर के क्षेमेन्द्र ने **रामायणमञ्जरी**, **भारतमञ्जरी** और **दशावतारचरित** की रचना की थी। इन तीनों रचनाओं में रामायण-महाभारत और पुराणाश्रित दशावतारों की कथा कही गयी है। बारहवीं शती में जैन आचार्य कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्र ने **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित** नामक बृहत्काय ग्रन्थ की सर्जना की। हेमचन्द्र ने इसे महाकाव्य कहा है, पर वस्तुतः वह संस्कृत में श्लोकबद्ध जैन पुराण है। उसमें जैनों के चौबीस तीर्थंकरों, बारह चक्रवर्तियों, नौ वासुदेवों, नौ बलदेवों और नौ प्रतिबलदेवों की जीवन-गाथा दस पर्वों में वर्णित है। अन्तिम परिशिष्ट पर्व अथवा **स्थविरावलीचरित** पौराणिक-कथात्मक शैली का एक स्वतन्त्र महाकाव्य है। हरमन जैकोबी के कथानानुसार महाभारत-रामायण के समान जैन महाकाव्य के रूप में इसकी रचना की गयी है।[१] बारहवीं शती में ही देवप्रभसूरि ने पौराणिक शैली में **पाण्डवचरित** नाम से १८ सर्गों में महाभारत की कथा लिखी। तेरहवीं शती में अमरचन्द्र सूरि ने **बालभारत** और वेंकटनाथ ने **यादवाभ्युदय** नामक बृहत् पौराणिक महाकाव्यों की रचना की। इस काल में जयद्रथ (सजानक) ने ३२ सर्गों का **हरचरित-**

---

१. Jacobi, Hermann : Introduction of Sthaviravali Carita, Calcutta, 1932, p.24.

चिन्तामणि नामक पौराणिक महाकाव्य लिखा, जिसमें शिव से सम्बद्ध विविध पौराणिक कथाओं का वर्णन है। परवर्ती-काल में कृष्णदास कविराज ने भागवत की शैली में **गोविन्दलीलामृत** और सतरहवीं शती में नीलकण्ठ दीक्षित ने स्कन्दपुराण को स्रोत मानकर **शिवलीलार्णव** नामक महाकाव्य लिखे। यशोधर की जैन-कथा के आधार पर भी कई **यशोधरचरित** लिखे गये। तेरहवीं शती में अमरचन्द्र ने **पद्मानन्द**, हरिश्चन्द्र ने **धर्मशर्माभ्युदय**, अभयदेव सूरि ने **जयन्त-विजय** और वाग्भट ने **नेमिनिर्वाण** नामक महाकाव्यों की रचना की। इन महाकाव्यों में पौराणिक-शैली के साथ-साथ कथात्मक और शास्त्रीय शैलियों का सुन्दर सन्निवेश हुआ है।

प्राकृत पौराणिक महाकाव्य

प्राकृत भाषा का प्राचीनतम महाकाव्य विमलसूरी का **पउमचरिय** है। विन्टरनित्ज़[१] विमल सूरि को प्रथम शती का और जैकोबी[२] तृतीय-चतुर्थ शती ई. का स्वीकार करते हैं, जबकि मुनिजिनविजय, केशवलाल ध्रुव, ए. सी. उपाध्याय आदि विद्वान् उन्हें बाणभट्ट के बाद का मानते हैं।[३] इस संदर्भ में जैकोबी का कथन है कि यह तृतीय-चतुर्थ शती में रचित प्राकृत का प्राचीनतम महाकाव्य है, जो वाल्मीकि रामायण की कथा का जैन रूपान्तर है। इसकी भाषा प्रारम्भिक प्राकृत है और यह महाकाव्य की सरल शैली में लिखा गया है। इस आधार पर ही जैकोबी ने अनुमान किया है कि विमलसूरी के पूर्व भी प्राकृत में अनेक लोक-प्रचलित महाकाव्य थे और **पउमचरिय** उनमें से एक है, जो आज भी प्राप्त है।[४]

पौराणिक शैली के अन्य ग्रन्थ आठवीं शती के बाद के लिखे हुए मिलते हैं। गुणपाल का **जम्बूचरित**, लक्ष्मणदेव का **णेमिणाहचरिय**, सोमप्रभ का

---

१. Winternitz, M. : History of Indian Literature, Vol.II, Delhi, 1972, p. 489.

२. द्रष्टव्य—Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol. 7, p.437 and Jacobi, H. : Some Ancient Prakrit Works (Modern Review, December, 3-36)

३. द्रष्टव्य—डॉ. श्यामशंकर दीक्षित : तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर, १९६९, पृ. ६०

४. Jacobi, H. : Some Ancient Prakrit Works (Modern Review, December, 1914)

सुमतिनाथचरित, देवचन्द्र सूरि का **शान्तिनाथचरिय**, शीलाचार्य का **महापुरिसचरिय**, महेश्वरसूरि का **पञ्चमी कहा**, वर्द्धमानाचार्य का **आदिनाथचरिय**, देवप्रभसूरि का **पार्श्वनाथचरिय**, हरिभद्रसूरि का **नेमिनाथचरिय** आदि प्राकृत के प्रमुख ग्रन्थ हैं, जिनमें से अधिकांश अप्रकाशित हैं। गुणचन्द्रमणि का **महावीरचरिय** (सं. ११३९) प्राकृत का सबसे बृहत् चरितकाव्य है, किन्तु इसे महाकाव्य के स्थान पर पुराण कहना अधिक युक्तिसंगत है।

अपभ्रंश पौराणिक महाकाव्य

अपभ्रंश भाषा में पौराणिक शैली के जिन महाकाव्यों की रचना हुई है, उनकी मुख्य विशेषता है—जैनानुमोदित पौराणिक परम्परा का पोषण करना। अपभ्रंश महाकाव्य साहित्य के निर्माण की निम्नलिखित तीन उल्लेखनीय विधाएं रही हैं—

(क) रामायण और महाभारत के जैन रूपान्तर।

(ख) त्रिषष्टिशलाकापुरुषों के युगपत् जीवन-वृत्त।

(ग) पौराणिक पुरुषों के वैयक्तिक जीवन-चरित।

(क) रामायण और महाभारत के जैन रूपान्तर

आठवीं शती में स्वयम्भू ने **पउमचरिउ** और **रिट्ठणेमिचरिउ** नामक दो विपुलकाय महाकाव्यों की रचना की, जिन्हें **पद्मपुराण** या **रामायणपुराणु** और **हरिवंशपुराण** भी कहा गया है। ईस्वी सन् की पहली शताब्दी तक जैनों ने अपने पुराणों को पूर्ण रूप से विकसित कर लिया था। इस काल तक राम, लक्ष्मण, कृष्ण, बलदेव आदि ब्राह्मणों के पौराणिक पुरुषों को भी उन्होंने अपने शलाकापुरुषों में सम्मिलित कर लिया था। अभिप्राय यह है कि जैनों ने ब्राह्मण विचारधारा के प्रतिनिधि काव्य-ग्रन्थ महाभारत और रामायण की कथाओं में कुछ परिवर्तन कर उन्हें जैन महाभारत और जैन रामायण का रूप दे दिया। प्रथम शती में विमलसूरि रचित प्राकृत का **पउमचरिउ** वाल्मीकि रामायण से प्रभावित ऐसा ही महाकाव्य है। कालान्तर में अपभ्रंश में, साथ ही संस्कृत में भी राम-कथा के जैन रूपान्तर काव्य और पुराण—दोनों रूपों में हुए।

(ख) त्रिषष्टिशलाकापुरुषों के युगपत् जीवन-वृत्त

जैन साहित्य में सभी शलाकापुरुषों के जीवनवृत्तों का एक साथ वर्णन करने वाले ग्रन्थ महापुराण कहे जाते हैं। पुष्पदन्त का दसवीं शती (९६५ ई.) में लिखा

गया **तिसट्ठिमहापुरिसगुणालङ्कार,** जो महापुराण भी कहा जाता है, इसी प्रकार का पौराणिक चरित-काव्य है। इसमें त्रिषष्टिशलाकापुरुषों का चरित वर्णित है, अत: जैन धर्म के अनुसार यह एक पुराण है। महाभारत में प्रधान या प्रासंगिक कथा एक होने से कुछ तो अन्विति है, किन्तु महापुराण में त्रेसठ पुरुषों का चरित होने से अन्विति नहीं है। डॉ. पी.एल. वैद्य का कहना है कि महापुराण में महाभारत और रामायण के समान अन्विति नहीं है, अत: यदि महाकाव्य की परिभाषा का कड़ाई से पालन किया जाये, तो महापुराण को महाकाव्य नहीं कहा जा सकता।[१] डॉ. शम्भूनाथ सिंह कथान्विति न होने पर भी इसे महाकाव्य ही कहते हैं।[२]

(ग) पौराणिक पुरुषों के वैयक्तिक जीवनचरित

अपभ्रंश में अनेक काव्य पौराणिक शैली में इस प्रकार के भी लिखे गये हैं, जिनमें किसी एक ही धार्मिक पुरुष का चरित वर्णित है। ऐसे काव्यों की विशेषता यह है कि उनमें किसी पौराणिक या धार्मिक व्यक्ति की जीवन-कथा जैन परम्परागत रीति से कही जाती है। कवि अपनी कल्पनाशक्ति से कथा के रूप में अधिक परिवर्तन नहीं कर सकता और विषय-प्रतिपादन का उद्देश्य बोध-प्रधान, उपदेशात्मक या प्रचारात्मक होता है। आशय यह है कि ऐसे काव्य काव्यात्मक धर्मकथा होते हैं। कुछ उल्लेखनीय अपभ्रंश काव्य निम्नलिखित हैं—

(१) वीर कवि कृत **जम्बूस्वामीचरिउ** (२) विबुध श्रीधर कृत **पासचरित,** (३) पद्मकीर्ति कृत **पासुपुराण,** (४) हरिभद्र कृत **णेमिणाहचरिउ** (५) शुभकीर्ति कृत **सान्तिणाहचरिउ** (६) भट्टारक यश:कीर्ति कृत **चन्दप्पहचरिउ** (७) धनपाल कृत

---

१. "The Mahapurana, therefore, is a work on the lives of sixty-three great men of the Jain faith, and thus occupies the same place of importance as the Mahabharata or the Ramayana in Hinduism. The Mahapurana, however, lacks the unity of the Mahabharata, of the Ramayana and therefore cannot be called an epic in the strictest sense of the term." Vaidya, P.L. : Introduction of the Mahapurana of Puspadanta, Vol.I, Bombay, 1937.

२. डॉ. शम्भूनाथ सिंह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, पृ. १८३

बाहुबलिचरिउ (८) तेजपाल कृत **सम्भवणाहचरिउ** (९) महीन्द्र कृत **सान्तिणाहचरिउ** (१०) जयमित्र हल्ल कृत **बड्ढमाणकव्वु**।

इन काव्यों में महाकाव्यत्व और प्राचीनता की दृष्टि से वीर कवि का **जम्बूस्वामीचरिउ** और हरिभद्र का **णेमिणाहचरिउ** ही विशेष महत्त्व के हैं। **जम्बूस्वामीचरिउ** में अन्तिम केवली जम्बू-स्वामी का जीवनचरित ११ सन्धियों में वर्णित है।[१] कवि ने प्रत्येक सन्धि की पुष्पिका में इसे शृङ्गार-वीर-महाकाव्य कहा है। इसके अतिरिक्त इस महाकाव्य में धर्मकथा, महाकाव्य और रोमांचक कथा—तीनों के गुणों का सुन्दर सामंजस्य हुआ है। यह अपभ्रंश में अपने ढंग का अनूठा काव्य है, क्योंकि इसमें पौराणिक और रोमांचक दोनों शैलियों का प्रयोग हुआ है।

हरिभद्र के **णेमिणाहचरिउ** को 'जैसलमेरीय भाण्डागारीय ग्रन्थानां सूची' में प्राकृतापभ्रंश भाषा निबद्ध कहा गया है, किन्तु जैकोबी इसे अपभ्रंश का ग्रंथ मानते हैं। यह अपभ्रंश के काव्यों में विशिष्ट और क्लिष्ट काव्य है। इसमें बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के नौ भवों का वर्णन किया गया है।

(२) ऐतिहासिक शैली के महाकाव्य

इतिहास, ऐतिहासिक महाकाव्य और ऐतिहासिक शैली के महाकाव्य—इन तीनों में अन्तर है। इतिहास तो पृथक् शास्त्र है। ऐतिहासिक महाकाव्य वे हैं, जिनका कथानक इतिहास से लिया गया है और जिनका घटनाक्रम भी इतिहास सम्मत होता है, पर जिनकी शैली शास्त्रीय महाकाव्य की होती है अर्थात् वस्तु-व्यापार-वर्णन, अलंकृत शैली, पात्रों की विविध मनोदशाओं का रागात्मक चित्रण, काव्य-रूढ़ियों का निर्वाह आदि बातें उनमें होती हैं। ऐसे महाकाव्य वस्तुतः शास्त्रीय महाकाव्यों की कोटि में ही आते हैं। परन्तु वे काव्य जिनका लक्ष्य इतिहास-क्रम या चरित-नायक के जीवनवृत्त का सीधा वर्णन कर देना ही रहता है और साथ ही जिनमें काल्पनिक घटनाओं और पात्रों का मनमाना उपयोग भी किया जाता है, ऐतिहासिक शैली के महाकाव्य कहे जा सकते हैं।[२] पौराणिक शैली की भाँति यह शैली भी

---

१. परमानन्द जैन शास्त्री : अपभ्रंश भाषा का जम्बूसामिचरित और महाकवि वीर (प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ. ४३९); रामसिंह तोमर : अपभ्रंश का एक शृंगार वीर काव्य, वीर कृत जम्बूस्वामीचरित (अनेकान्त, अक्टूबर, १९४८, पृ. ३९४)

२. (a) "But while the geneology beyond one or two generations is often amiably invented and exaggerated

काव्य और इतिहास के बीच की है। जिस प्रकार पुराणों में प्राचीन भारतीय इतिहास अंशत: सुरक्षित है, उसी प्रकार ऐतिहासिक शैली के महाकाव्यों में भी इतिहास आंशिक रूप में ही उपलब्ध होता है।

ऐतिहासिक काव्य का पूर्वरूप शिलालेखों की प्रशस्तियों में दिखायी देता है। सर्वप्रथम ऐतिहासिक महाकाव्य अश्वघोष का **बुद्धचरित** है। समसामयिक राजाओं और व्यक्तियों को लेकर लिखा जाने वाला उपलब्ध सर्वप्रथम ग्रन्थ बाण का **हर्षचरित** है। आठवीं-नवीं शती से समसामयिक राजाओं के नाम पर प्रशस्ति-काव्य या चरित-काव्यों की रचना होने लगी थी। किन्तु समसामयिक व्यक्तियों के जीवन पर लिखे गये काव्यों में ऐतिहासिकता बहुत कम है, ऐसे काव्य या तो शास्त्रीय महाकाव्य के रूप में हैं या रोमांचक-कथात्मक महाकाव्य के रूप में अथवा ऐतिहासिक शैली के महाकाव्य के रूप में।

ऐतिहासिक शैली के महाकाव्यों में ऐतिहासिक घटना-क्रमावलम्बन, वंश-परम्परा-वर्णन और नायक के कार्यों का वर्णन भी छन्दोबद्ध रूप में यथातथ्य रीति से होता है। ऐसे काव्यों में काव्यात्मकता और कथा-प्रवाह कम होता है और महान् उद्देश्य तथा कार्यान्विति की भी कमी होती है। ऐतिहासिक शैली का महत्त्वपूर्ण महाकाव्य बिल्हण का **विक्रमांकदेवचरित** है, जो ग्यारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में कवि के आश्रयदाता कल्याण के चालुक्य राजा त्रिभुवनमल्ल (विक्रमादित्य षष्ठ) के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में लिखा गया है। बारहवीं शती में

---

and glorification takes the place of sober statements of facts, the laudatory accounts are generally composed by poets of modest power. The result is neither good poetry nor good history." Dasgupta and De : History of Sanskrit Literature, Calcutta, 1947, p.246.

(b) "The importance of Charitas like Shriharshacarita and Vikramankadevacarita lies chiefly therein that however much a vitiated taste and a false conception of the duties of historiographer royal may lead their authors stray the main facts may be accepted as historical." Buhlar, George : Introduction to Vikramankadevacaritam, Bombay, 1915, p.3.

लिखी गयी कल्हण की **राजतरंगिणी** यद्यपि प्रधानतया इतिहास-ग्रन्थ है, किन्तु उसमें लेखक का नाम कविरूप में स्थान-स्थान पर उल्लिखित होने के कारण डॉ. एस.के.डे प्रभृति विद्वान् उसे इतिहास से अधिक काव्य मानते हैं।[१] कल्हण ने स्वयं भी **राजतरंगिणी** को महाकाव्य कहा है।[२] अस्तु, **राजतंरगिणी** को यदि महाकाव्य मान लिया जाए, तो वह अपने ढंग का ऐतिहासिक शैली का एकमात्र महाकाव्य ही है, क्योंकि न तो वह महाभारत की भाँति विकसनशील महाकाव्य है, न ही रघुवंश की तरह अलंकृत शास्त्रीय महाकाव्य।

ऐतिहासिक चरित-काव्यों में सन्ध्याकरनन्दी के **रामचरित** का भी नाम लिया जाता है, किन्तु इसमें काव्यात्मकता और ऐतिहासिकता दोनों का अभाव होने के कारण यह महत्त्वपूर्ण काव्य नहीं माना जाता। बारहवीं शती का हेमचन्द्र कृत **कुमारपालचरित** द्व्यर्थक काव्य है, इसमें कुमारपाल का जीवन-वृत्त दिया गया है। इसमें ऐतिहासिक शैली तो अपनायी गयी है, पर काव्यात्मकता का नितान्त अभाव है। गुजरात के राजा वीरधवल और विशालदेव के मन्त्री वस्तुपाल और तेजपाल के सम्बन्ध में अरिसिंह ने **सुकृतसंकीर्तन** और बालचन्द्र सूरि ने **वसन्तविलास** नामक महाकाव्यों की रचना की। इनमें उपदेशात्मक और इतिवृत्तात्मक वर्णनों के कारण महाकाव्य के गुण नहीं है। पन्द्रहवीं शती में जयचन्द्र विरचित **हम्मीर-महाकाव्य** ऐतिहासिक शैली का महत्त्वपूर्ण महाकाव्य है, क्योंकि उसमें ऐतिहासिक शैली की सभी विशेषताएं उपलब्ध हैं। इसी काल में जोनराज ने जयानक के **पृथ्वीराजविजय** महाकाव्य पर टीका लिखी, किन्तु महाकाव्य की खण्डित प्रति ही उपलब्ध होने से उसका रचना-काल निश्चित नहीं है। इसके प्राप्त अंश में पर्याप्त ऐतिहासिकता दृष्टिगोचर होती है।

कथाओं और ऐतिहासिक निजन्धरी आख्यानों की दृष्टि से पालि-साहित्य की देन निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण है। जातक कथाओं में कथा-साहित्य का प्रारम्भिक रूप मिलता है और थेरी गाथा और अट्ठकहा में कथा और निजन्धरी आख्यान का सम्मिश्रण दिखाई देता है। पाँचवीं शती में अट्ठकहा के आधार पर ही सिंहल के इतिहास से सम्बद्ध दो ग्रन्थ **दीपवंश** और **महावंश** निर्मित हुए।

---

१. De, S.K. : A History of Sanskrit Literature, p.359.

२. द्रष्टव्य-राजतरंगिणी, प्रथम खण्ड, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, १९८१, १.७, १०

विन्टरनित्ज़ ने इन्हें ऐतिहासिक महाकाव्य की संज्ञा दी है।[१] इनमें **महावंश** को राजतरंगिणी जैसा ऐतिहासिक शैली का महाकाव्य माना जा सकता है।

प्राकृत और अपभ्रंश में ऐतिहासिक शैली के महाकाव्यों का लगभग अभाव-सा ही है। वाक्पतिराज कृत **गउडवहो** प्राकृत का चरित-काव्य है। इस काव्य की शैली शास्त्रीय होने के कारण इसे ऐतिहासिक शैली का चरित-काव्य नहीं माना जाता।

(३) रोमांचक या कथात्मक महाकाव्य

चरित-काव्य पौराणिक, ऐतिहासिक और रोमांचक तीनों शैलियों में लिखे गये हैं। संस्कृत के जितने भी चरित-काव्य हैं, कथा-आख्यायिका से बहुत प्रभावित हैं, किन्तु यह प्रभाव सबसे अधिक रोमांचक शैली के चरित-काव्यों पर दिखायी पड़ता है। संस्कृत के कुछ ही ऐसे चरित-काव्य हैं, जो अलंकृत महाकाव्य के रूप में अधिक ख्याति प्राप्त कर सके, यथा—हरिश्चन्द्र कृत **धर्मशर्माभ्युदय**, मंखक कृत **श्रीकण्ठचरित**, पद्मगुप्त कृत **नवसाहसांकचरित**, बिल्हण कृत **विक्रमांकदेवचरित** आदि।

संस्कृत पण्डितों और नागर जनों की भाषा थी, अत: लोकभाषाओं (प्राकृतों) में ही विभिन्न प्रकार की कथाएं संकलित और निर्मित होती रहीं। गुणाढ्य की **बृहत्कथा** इसका उदाहरण है। जब प्राकृत साहित्य बहुत समृद्ध और लोकप्रिय हो गया तथा राजदरबारों में उसकी प्रतिष्ठा होने लगी, तब उसकी उपेक्षा करना संस्कृत के पण्डितों के लिए सम्भव न था। अत: प्राकृत कथा-साहित्य का प्रभाव संस्कृत पर पड़ा, उसमें अलंकृत शैली की गद्यबद्ध कथा-आख्यायिकाएं लिखी गयीं। छठी

---

१. "The same Atthakathas are also the sources from which the historical and epic pali poems of Cylon are derived, for the Pali chronicles of Cylon, the Dipavamsa and the Mahavamsa, cannot be termed actual histories, but only historical poems. As it has never been the Indian way to make clearly defined distinction between myth, legend and history, historiography in India was never more than a branch of epic poetry." Winternitz : A History of Indian Literature, Vol.II, Calcutta, 1933, p.208.

शताब्दी में दण्डी, सुबन्धु और बाणभट्ट ने इस प्रकार की कथा-आख्यायिकाएं लिखीं और भामह, दण्डी प्रभृति आचार्यों ने उनके लक्षण भी बनाये। प्राकृत और अपभ्रंश में इस प्रकार के पद्यबद्ध कथा-काव्य भी होते थे जिनकी ओर नवीं शताब्दी के आलंकारिक रुद्रट ने संकेत किया।[१] इन काव्यों की शैली संस्कृत के शास्त्रीय महाकाव्यों की शैली से भिन्न होती थी। शनैः-शनैः उन काव्यों ने संस्कृत की महाकाव्य शैली को प्रभावित करना प्रारम्भ किया। फलस्वरूप संस्कृत महाकाव्य के केवल बाह्य और स्थूल लक्षणों में ही परिवर्तन नहीं हुआ, बल्कि उसकी अन्तरात्मा भी बदली। इस प्रकार आठवीं-नवीं शताब्दी के आसपास प्राकृत-अपभ्रंश के चरित-काव्यों के प्रभाव के परिणामस्वरूप संस्कृत महाकाव्य में कथात्मक शैली का प्रवेश हुआ। इस प्रवेश का परिणाम यह हुआ कि संस्कृत महाकाव्य की अलंकृत शैली में लोकतत्त्वों से प्रभावित सरलता, स्वच्छता और रोमांचकता का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार शिष्ट-साहित्य और लोक-साहित्य दोनों का एकीकरण या सम्मिश्रण हो गया और बाध्य होकर परवर्ती आचार्यों को रोमांचक चरितकाव्यों को भी महाकाव्य मानना पड़ा। वस्तुतः रोमाचंक महाकाव्य लोक-साहित्य के रोमांचक काव्यों के विकसित रूप हैं।

संस्कृत में रोमांचक महाकाव्यों का प्रारम्भ प्रधानतया जैनों के पौराणिक काव्य-ग्रन्थों और गुणाढ्य की **बृहत्कथा** के आधार पर लिखे गये ग्रन्थों से मानना चाहिए। यद्यपि वे महाकाव्य नहीं, अपितु पुराण और कथाकाव्य माने जाते हैं। वस्तुतः संस्कृत का प्रारम्भिक रोमांचक महाकाव्य सोमदेव के **कथासरित्सागर** को कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें काव्यात्मकता अधिक है। ग्यारहवीं शती के प्रारम्भ में ही पद्मगुप्त ने **नवसाहसांकचरित** लिखा, जो समसामयिक राजा के नाम पर लिखा गया प्रथम परिष्कृत और अलंकृत शैली का रोमांचक महाकाव्य है। बारहवीं शती में वाग्भट्ट ने १५ सर्गों का **नेमिनिर्वाण** नामक महाकाव्य लिखा। तदनन्तर तेरहवीं शती से पन्द्रहवीं-सोलहवीं शती तक जैन कवियों ने चरित-काव्यों की भरमार कर दी, जिनमें वीरनन्दी का **चन्द्रप्रभचरित** (१३वीं शती), सोमेश्वर कवि का **सुरथोत्सव** (१३शती), भवदेव सूरि का **पार्श्वनाथचरित** (१३-१४ वीं शती) और मुनिभद्रसूरि का **शान्तिनाथचरित** आदि प्रमुख रोमांचक महाकाव्य हैं।

---

१. "कन्यालाभ फलां वा सम्यग्विन्यस्तसकलशृंगारम् इति संस्कृते कुर्यात्कथामगद्येन चान्येन।" रुद्रट : काव्यालंकार, १६.२२

प्राकृत-अपभ्रंश में निबद्ध महाकाव्य और कथा में संस्कृत की भाँति पद्य और गद्य का भेद नहीं रह गया था। इन भाषाओं में कथाएं तो पहले से ही पद्यबद्ध होती थीं, कालान्तर में पौराणिक और कल्पित काव्य भी कथा की शैली में ही लिखे जाने लगे। परवर्ती प्राकृत काव्यों को तो गुणाढ्य की लोकप्रिय **वड्डकहा** ने इतना प्रभावित किया कि पउमचरिय की शैली विस्मृतप्राय हो गयी। प्राकृत में महाकाव्य और कथा का भेद इस सीमा तक मिट गया कि आज एक ही काव्य को एक विद्वान् महाकाव्य कहता है, तो दूसरा कथा। उदाहरणत: कुतूहल की **लीलावती** के दो सम्पादकों में से एक मुनि जिनविजय[१] उसे महाकाव्य मानते हैं तो द्वितीय डॉ. ए.एन. उपाध्ये[२] उसे कथा कहते हैं। **मलयसुन्दरी कथा** को भी विन्टरनित्ज़ ने रोमांचक महाकाव्य माना है,[३] जबकि रुद्रट की परिभाषा के अनुसार उसे महाकथा कहना चाहिए। इसी प्रकार संस्कृत में भवदेव सूरि का **पार्श्वनाथचरित**, हरिश्चन्द्र का **धर्मशर्माभ्युदय**, वाग्भट कृत **नेमिनिर्वाण** आदि ग्रन्थ पौराणिक महाकाव्य होते हुए भी रोमांचक महाकाव्य माने गये हैं। विन्टरनित्ज़ ने अपभ्रंश के कथात्मक काव्य **भविष्यत्तकहा** को भी रोमांचक महाकाव्य ही माना है।[४]

---

१. "When, in 1940, my beloved friend Dr. Upadhyay expressed his desire to edit this poem I felt very happy, and decided to present this "prakrit mahākāvya with its sanskrit commentry by an anonymous Jain author edited by him as a precious jewel in the necklace of our Granthamala." Muni Jinavijaya: General Editor's preface to Lilavai, Bombay, Samvat 2005, p.21

२. "Rudraṭa's recognition of Kathā in verse in any language other than Sanskrit, one can easily believe, presupposes Prakrit kathās of the prototype of Lilāvatī. and, it will be seen that this Lilāvati admirably and suitably fulfills all the requirements of a kathā as noted by Rudraṭ." Upadhyay, A.N. : Introduction to Lilavati, Bombay, Samvat 2005, p.42.

३. Winternitz, M : A History of Indian Literature, Calcutta, 1933, p.533.

४. Ibid, p.532

रोमांचक महाकाव्य और रोमांचक कथा में इतना अधिक अभेद होते हुए भी उनकी अन्तरात्मा और स्थापन-पद्धति में अन्तर होता है। रोमांचक महाकाव्य में कथावस्तु रोमांचक होते हुए भी उसे प्रस्तुत करने का ढंग महाकाव्य का होता है। इसके विपरीत रोमांचक कथाओं में कथानक असंयमित, जटिल और विविध घटनाओं और अवान्तर-कथाओं से भरा होता है; उसका उद्देश्य मात्र-मनोरंजन या किसी धार्मिक या नैतिक तथ्य का उदाहरण प्रस्तुत करना रहता है।

प्राकृत में चरित काव्यों के अतिरिक्त अनेक पद्यबद्ध कथाकाव्य भी लिखे गये हैं, जिनमें से अधिकांश तो रोमांचक कथा मात्र हैं, किन्तु कुछ को रोमांचक महाकाव्य भी कहा जा सकता है। दसवीं शती के पूर्व लिखी गयी कथाओं में पादलिप्त की **विलासवईकहा,** जिसका मूल रूप अब अप्राप्य है, उद्योतन की **कुवलयमाला** और हरिभद्र की **समराइच्चकहा** प्रमुख हैं। इनमें से कोई महाकाव्य-कोटि में नहीं आती। दसवीं शती से प्राकृत और अपभ्रंश में ऐसे कथात्मक काव्य लिखे जाने लगे जिनमें महाकाव्य और कथा दोनों के लक्षण विद्यमान हैं। कुतूहल की **लीलावती** ऐसा ही महत्त्वपूर्ण काव्य है। यद्यपि कवि इसे स्वयं कथा कहता है, तथापि इसमें महाकाव्य के कई तत्त्व पाये जाते हैं, इसीलिए इसे रोमांचक महाकाव्य माना जा सकता है। मुनि जिनविजय भी इसे महाकाव्य ही कहते हैं। डॉ. ए एन. उपाध्ये भी इसमें उपलब्ध महाकाव्य के तत्त्वों के आधार पर एनसाइक्लोपीडिया ऑफ लिटरेचर में प्राकृत साहित्य के सन्दर्भ में लीलावती को अलंकृत रोमांचक महाकाव्य मानकर लीलावती की भूमिका में दिये गये अपने मत में संशोधन करते हैं[१]।

लीलावती के अतिरिक्त प्राकृत में महेश्वर सूरि का **पंचमीकहा** (११वीं शती), धनेश्वर का **सुरसन्दरीचरिय** (१०३८ ई.), वर्धमान का **मनोरमाचरित** (१०४३ई.), महेन्द्र सूरि का **नर्मदासुन्दरीकथा** (१२१६ ई.), गुणसमृद्धिमहत्तरा लिखित **अंजणा-सुन्दरीचरिय** और किसी अज्ञात कवि का **कालकाचार्यकथानक** आदि ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं। पंचमीकहा, मनोरमाचरित और कालकाचार्य-कथानक के अतिरिक्त शेष को रोमांचक महाकाव्य माना जा सकता है।

---

१. Encyclopaedia of Literature, Vol. I, p.489

अपभ्रंश के रोमांचक काव्यों में उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं—(१) धनपाल कृत **भविसयत्तकहा**, (२) नयनन्दि कृत **सुदंसणचरिउ**, (३) साधारणकवि कृत **विलासवईकहा**, (४) कनकामर कृत **करकंडुचरिउ**, (५) सिद्ध तथा सिंह कवि कृत **पज्जुण्णकहा**, (६) कवि लक्ष्मण कृत **जिणदत्तचरिउ**, (७) माणिकराज कृत **णायकुमारचरिउ** तथा (८) रइधू कृत **सिद्धचक्कमाहप्प**।

इनमें से भविसयत्तकहा ही ऐसा ग्रन्थ है, जिसे निश्चित रूप से महाकाव्य माना जा सकता है। दसवीं शती के कवि धनपाल ने श्रुतपंचमीव्रत का माहात्म्य प्रकट करने के लिये दृष्टान्त रूप में इस महाकाव्य की रचना की। हरिभद्र के प्राकृत कथा-ग्रन्थ समराइच्चकहा का प्रभाव इस काव्य पर स्पष्टतः परिलक्षित होता है। यद्यपि कवि ने अपने इस ग्रन्थ को कथा कहा है,[१] तथापि इसकी शैली महाकाव्य की ही है। इसीलिए विन्टरनित्ज़ ने इसे कथा के ढंग का रोमांचक महाकाव्य माना है।[२] द्वितीय महत्त्वपूर्ण काव्य मुनि कनकामर का करकंडुचरिउ है, जिसे लघु रोमांचक महाकाव्य कहा जा सकता है। इसे बौद्धों और जैनों में समान रूप से मान्य करकंडु महाराज के जीवन-चरित को आधार बनाकर पंचकल्याणविधान का फल दिखाने के लिये लिखा गया है। बारह सन्धियों वाला सुदंसणचरिउ भी विचारणीय है। पण्डित परमानन्द जैन शास्त्री ने इसे महाकाव्य माना है।[३] इसमें पंचणमोकार मंत्र का फल बताने के लिये सेठ सुदर्शन के चरित का वर्णन किया गया है। यह धार्मिक और उपदेशात्मक अधिक है, किन्तु पात्रों के चरित का मनोवैज्ञानिक चित्रण इसकी विशेषता है।

(४) शास्त्रीय महाकाव्य

काव्य-शैली की अजस्र-धारा यद्यपि वैदिक काल से आज तक निरन्तर दिखायी देती है, किन्तु अलंकृत काव्य का स्वतन्त्र रूप वीर-युग के अनन्तर सामन्त युग के प्रारम्भिक काल से ही समझना चाहिए। ईस्वी सन् के आरम्भ तक लौकिक संस्कृत में काव्य-शैली परिष्कृत हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त उसके लक्षण और आदर्श की स्थापना द्वारा उसका स्वरूप भी निश्चित हो चुका था। भरत के नाट्यशास्त्र, भास के नाटक और अश्वघोष के महाकाव्यों से यह तथ्य प्रमाणित

---

१. निसुणंतहं एह णिम्मल पुण्णपवित्तकहा, भविसयत्तकहा, १.४

२. Winternitz : A History of Indian Literature, Vol.II, p.532

३. अनेकान्त, मार्च १९५०, पृ.३१३

होता है। मुख्य रूप से महाकाव्य रामायण की शैली से प्रभावित होकर रचे गये, अत: कुछ शताब्दियों में महाकाव्य के रूप-शिल्प की एक ही पद्धति पुन: पुन: प्रयुक्त होने के कारण रूढ़ होती गयी।[१] पाँचवीं शती में भामह तथा छठी शती में दण्डी द्वारा दिये गये महाकाव्य-लक्षणों से इस कथन की पुष्टि होती है। कालान्तर में काव्यशास्त्रियों ने महाकाव्य को रूपशिल्प सम्बन्धी नियमों से इस प्रकार बाँध दिया कि स्वछन्द पद्धति से महाकाव्य की रचना असम्भवप्राय हो गयी। एवंविध, काव्यशास्त्रों के नियमों से नियमित महाकाव्य ही शास्त्रीय महाकाव्य (Classical Epic) कहा जाता है।

राजशेखर काव्यमीमांसा मे कवि के प्रकारों में **शास्त्रकवि** नामक एक प्रकार का उल्लेख करते हैं। उनके अनुसार यह शास्त्रकवि तीन प्रकार का होता है— (१) शास्त्र का निर्माण करने वाला, (२) शास्त्र में काव्य का समावेश करने वाला एवं (३) काव्य में शास्त्र का समावेश करने वाला।[२] काव्यशास्त्रीय प्राच्य-परम्पराओं और आधुनिक महाकाव्य सम्बन्धी मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में शास्त्रीय महाकाव्यों को निम्नलिखित तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है—

(क) रससिद्ध या रीतिमुक्त

(ख) रुढ़िबद्ध या रीतिबद्ध

(ग) शास्त्रकाव्य और सन्धानकाव्य

(क) रससिद्ध या रीतिमुक्त शास्त्रीय महाकाव्य

जिन महाकाव्यों की रचना रीतिग्रन्थों के निर्माण से पूर्व हुई है अथवा जो रीतिबद्ध युग में भी काव्यशास्त्र के विधान से अनुशासित होकर नहीं लिखे गये या यह कहा जा सकता है कि जो महाकाव्य काव्यशास्त्रों की रचना में आदर्श मानदण्ड के रूप में स्वीकृत किये गये, उन्हें रीतिमुक्त अथवा रससिद्ध महाकाव्यों का नाम

---

१. "सन् ईस्वी के आरम्भ के समय निश्चित रूप से संस्कृत की काव्य-शैली निखर चुकी थी, काव्य सम्बन्धी रुढ़ियाँ बन चुकी थीं और कथानक में भी मोहन गुण और मादक प्रवृत्ति ले आने वाले काव्यगत अभिप्राय प्रतिष्ठित हो चुके थे", आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी: संस्कृत के महाकाव्यों की परम्परा (आलोचना, जुलाई १९५२), पृ.९

२. "तत्र त्रिधा शास्त्रकवि:। य शास्त्रं विधत्ते, यश्च शास्त्रे काव्यं संविधत्ते, योऽपि काव्ये शास्त्रार्थं निधत्ते।" काव्यमीमांसा, चौखम्बा संस्करण, अध्याय ५, पृ.४४

दिया गया। इस श्रेणी में मुख्यत: पाणिनि, अश्वघोष और कालिदास के महाकाव्य आते हैं।

यद्यपि पाणिनि का कोई काव्य अभी तक उपलब्ध नहीं हो पाया है, तथापि सुभाषितसंग्रहकारों, अलंकारशास्त्रियों तथा कुछ टीकाकारों ने उनके काव्यों का उल्लेख किया है तथा उनसे यथाप्रसंग उद्धरण भी दिये हैं।[१]

शास्त्रीय शैली के प्रथम उपलब्ध महाकाव्य बौद्ध-कवि अश्वघोष की रचनाएं हैं। अश्वघोष यद्यपि बौद्ध-भिक्खु और महान् पण्डित थे, तथापि उनके महाकाव्यों—**बुद्धचरित** और **सौन्दरनन्द** में उनका कविरूप ही प्रधान है। **सौन्दरनन्द** में उनका धर्म-प्रचारक और दार्शनिक पक्ष अधिक प्रबल हो उठा है, फिर भी सर्वत्र सरसता तथा स्वाभाविकता बनी रहती है। **बुद्धचरित** में दार्शनिक स्थलों की पारिभाषिक शब्दावली ने विषय तथा अभिव्यंजना शैली में विचित्र वैषम्य उपस्थित कर दिया है, फिर भी उनकी शैली नैसर्गिक, सहज और संतुलित है। उनमें अलंकृति भी है, पर रामायण जैसी, परवर्ती महाकाव्यों जैसी नहीं। उनके महाकाव्य शान्तरस प्रधान हैं, किन्तु शृंगार और मारविजय के प्रसंग में वीर रस की व्यंजना भी की गयी है। मूलत: वैराग्य-पोषक दृष्टि को महत्त्व देने के बाद भी अश्वघोष के काव्य में शृंगार चेतना अछूती नहीं है।

कालिदास के महाकाव्यों में जीवन के दोनों पक्षों—राग और विराग, भोग और त्याग का संतुलित चित्रण हुआ है। इस चित्रण में कविता के कायिक तथा आत्मिक सौन्दर्य की निसर्गता में कोई कमी नहीं आने पायी है। उनके महाकाव्यों में जीवन के विविध स्वरूपों का सहज उद्घाटन हुआ है। यथा—**कुमारसम्भव** में वासनाजन्य प्रेम को उत्पन्न करने वाले सौन्दर्य की असफलता तथा दाम्पत्य जीवन में तप:पूत निश्छल प्रेम की आवश्यकता का सहज चित्रण हुआ है। इतना होते हुए भी उनके महाकाव्यों में अन्विति है, घटना प्रवाह है, अवान्तर-कथाओं की कमी है और नाटकीय विकास-क्रम है। ऐसा कलात्मक वैभव **रघुवंश** मे दृष्टिगोचर होता है। इतने विशाल काल-खण्ड लेकर उन्होंने दिलीप से अग्निवर्ण तक के जीवन की घटनाओं के जो चित्र खींचे हैं, उनसे नाटक के दृश्यों के समान पाठक-मन आनन्दपूरित हो जाता है। इसकी वर्ण्य-वस्तु तथा अभिव्यंजना शैली में जो सुखद सन्तुलन है, कथानक में जो अबाध प्रवाह है, भाषा में जो परिष्कार तथा संयम है,

---

१. द्रष्टव्य-बलदेव उपाध्याय: संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. १५०

उनके कारण रघुवंश समग्र महाकाव्य-साहित्य में अद्वितीय स्थान रखता है। रघुवंश संस्कृत महाकाव्य परम्परा को सर्वोच्च चरम बिन्दु पर ले जाकर विरत होता है।[१]

इस प्रकार उपर्युक्त कवियों के महाकाव्य रससिद्ध या रीतिमुक्त शास्त्रीय महाकाव्य हैं। इन कवियों ने महाकाव्य सम्बन्धी रुढ़ियों का पालन करने के लिये नहीं, अपितु महाकाव्य-लेखन द्वारा महाकाव्य सम्बन्धी रूढ़ियों की स्थापना की। उनका ध्यान विषय-वस्तु के प्रतिपादन और काव्य-सौन्दर्य के निदर्शन की ओर था, न कि रीति-निर्वाह की ओर। इस परम्परा का निर्वाह सातवीं शताब्दी के कवि कुमारदास के **जानकीहरण** तथा नवीं शताब्दी के गौड़ कवि अभिनन्द के **रामचरित** में भी हुआ है। इनमें कुमारदास के जानकीहरण पर कालिदास का इतना प्रभाव है कि जनश्रुति उन्हें कालिदास का मित्र बताती है। अभिनन्द के रामचरित पर वाल्मीकि-रामायण का प्रभाव स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त यह भी हर्षप्रद विषय है कि **जैनकुमारसम्भव**, **नेमिनाथचरित**, **काव्यमण्डन** आदि जैन महाकाव्यों के रचनाकारों ने भी, कम-से-कम शैली की दृष्टि से, कालिदास का अनुगमन किया है।

प्राकृत के शास्त्रीय महाकाव्यों में प्रवरसेन का **सेउबन्ध** और वाक्पतिराज का **गउडवहो**—ये दो महाकाव्य ही उपलब्ध होते हैं। संस्कृत में जिस प्रकार कालिदास के महाकाव्य शास्त्रीय शैली के मानदण्ड के रूप में मान्य हैं, उसी प्रकार प्राकृत के उपर्युक्त दो महाकाव्यों में से प्रवरसेन का **सेउबन्ध** या **रावणवहो** सर्वोत्कृष्ट रससिद्ध या रीतिमुक्त शास्त्रीय शैली का महाकाव्य कहा जा सकता है। **सेउबन्ध** सम्भवतः पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्ध अथवा छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में लिखा गया, यही कारण है कि इसमें सामन्ती संस्कृति के प्रतीक शास्त्रीय महाकाव्य के सभी लक्षण पाये जाते हैं। अपने काव्यगत गुणों के कारण सेउबन्ध को प्रारम्भ से ही प्रतिष्ठित पद प्राप्त रहा है। दण्डी ने इसे 'सागरः सूक्तिरत्नानाम्' कहा है। बाण की प्रख्यात सूक्ति प्रवरसेन के काव्य के महत्त्व की प्राचीन स्वीकृति है—

कीर्त्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला।
सागरस्य परं पारं कपिसेनैव सेतुना॥

---

१. आलोचना- १.४, पृ.१४

इसके पन्द्रह आश्वासकों में सेतुबन्ध से लेकर रावणवध तथा राम के अयोध्या-आगमन तक की रामायण-कथा वर्णित है। इसकी कथावस्तु बहुत संक्षिप्त है, किन्तु प्राकृतिक दृश्य, युद्ध, विरह-शोक आदि भावों का यथोचित वर्णन किया गया है। प्रौढ़ और प्रसाद गुणयुक्त भाषा, उक्ति-वैचित्र्य, अलंकृत-चित्रण, प्रासंगिक वस्तु-व्यापार-वर्णन और प्रसाद गुण के कारण ही इसे रीतिमुक्त रससिद्ध शास्त्रीय महाकाव्य स्वीकार किया जा सकता है।

(ख) रूढ़िबद्ध या रीतिबद्ध शास्त्रीय महाकाव्य

छठी शताब्दी के अनन्तर साहित्यिक एवं सामाजिक चेतना में गम्भीर परिवर्तन का सूत्रपात हुआ। विभिन्न ऐतिहासिक कारणों से संस्कृत भाषा जन-सामान्य से विच्छिन्न होकर शनैः शनैः बहुश्रुत पण्डित वर्ग तक ही सीमित रह गयी। परिणामस्वरूप विद्वत्तासम्पन्न पण्डितों की बौद्धिक साधना ही काव्य का लक्ष्य बन गयी। ह्रासोन्मुख सामन्त युग की प्रवृत्तियों के कारण महाकाव्यों में उत्तरोत्तर कृत्रिमता, शास्त्रीय विदग्धता तथा विलासिता का समावेश होता गया।

महाकाव्य के क्षेत्र में रीतिबद्धता की यह प्रवृत्ति सर्वप्रथम भारवि के **किरातार्जुनीय** में परिलक्षित होती है। कालिदास तथा भारवि के मध्यवर्ती युग के महाकाव्यों के अभाव में इस शैली की उद्भावना का सारा दोष भारवि को देना तो न्यायसंगत नहीं, किन्तु अलंकृति के प्रदर्शन की प्रवृत्ति के सम्मुख आत्मसमर्पण करने वाले वे प्रथम ज्ञात कवि हैं। भारवि की शैली कालिदास तथा माघ की मध्यवर्ती काव्य शैली की प्रतीक है। वह विकटबन्ध पदावली का आश्रय तो नहीं लेती किन्तु वह बहुविध शास्त्रीय ज्ञान तथा अलंकारों के बरबस विन्यास से बोझिल है। डॉ. एस. के. डे के अनुसार भारवि की कला प्रायः अत्यधिक अलंकृत नहीं है, किन्तु आकृति सौष्ठव की नियमितता व्यक्त करती है। भारवि की अभिव्यंजना शैली का परिपाक अपनी उदात्त स्निग्धता के कारण सुन्दर लगता है, उसमें शब्द और अर्थ के सुडौलपन की स्वस्थता है, किन्तु महान् कविता की उस शक्ति की कमी है, जो भावों की स्फूर्ति तथा हृदय को उठाने की उच्चतम क्षमता रखती है।[१]

भारवि के **किरातार्जुनीय** में महाकाव्य की विषय-वस्तु और रूप-शिल्प का सन्तुलन बिगड़ा तो उत्तरोत्तर बिगड़ता ही गया। माघ ने **शिशुपालवध** में भारवि की पद्धति को अपनाया ही नहीं अपितु अलंकृति और विद्वत्ता-प्रदर्शन में आगे

---

१. डॉ. एस. के. डे : हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ. १८२

निकलने की प्रतिस्पर्धा द्वारा उसकी कीर्ति को निरस्त करने का प्रयास भी किया। फलस्वरूप **शिशुपालवध** का इतिवृत्त भारवि के कथानक से भी छोटा होने के कारण उन्हें वस्तु-व्यापार के अप्रासंगिक और अत्यधिक अलंकृत वर्णनों के विस्तार से काव्य के कलेवर की वृद्धि करनी पड़ी। माघ में कवित्व की कमी नहीं है, किन्तु वह जहाँ भी आता है पाण्डित्य का परिधान पहनकर आता है। वर्तमान रूप में माघ का **शिशुपालवध** कृत्रिमता, अलंकृति और रूढ़िपालन का प्रौढ़ किन्तु अनुकरणीय निदर्शन है। इस सन्दर्भ में डॉ. एस के. डे का मत है कि भारवि, माघ आदि प्रारम्भिक रीतिबद्ध कवियों ने अलंकार-ग्रन्थों का अध्ययन करके महाकाव्यों की रचना नहीं की, इसके विपरीत प्रारम्भिक आलंकारिक आचार्य भामह और दण्डी ने जो नियम बनाये हैं और आलोचना की है, वह सब उन कवियों के महाकाव्यों को, विशेष रूप से भारवि के **किरातार्जुनीय** को पढ़कर लिखी गयी प्रतीत होती है। यही कारण है कि उनमें अव्यापि दोष तो है ही, वे अपने पूर्ववर्ती कवियों के काव्यों के ऐतिहासिक और काव्यात्मक मूल्यों पर भी कुछ प्रकाश नहीं डाल सके हैं।[१] भामह भारवि से पूर्ववर्ती और दण्डी के समकालीन माने जाते हैं, इसलिए भामह और दण्डी भारवि के आधार पर लक्षण-ग्रन्थों की रचना नहीं कर सकते। वस्तुत: छठी शती का युग ही ऐसा था जिसमें साहित्य अत्यधिक अलंकृति, पाण्डित्य-प्रदर्शन आदि कृत्रिम साधनों से आक्रान्त हो गया था।

माघ की चमत्कारजनक कृत्रिम शैली से प्रभावित परवर्ती कवि उनका अनुगमन करने लगे, परिणामत: परवर्ती काव्य-साहित्य पर उनकी अमिट छाप परिलक्षित होती है। एवंविध माघोत्तर महाकाव्य कविप्रतिभा की स्वाभाविक अभिव्यक्ति न रहकर विद्वत्ताप्रदर्शन, अनियन्त्रित-वर्णन तथा शब्दाडम्बर की क्रीड़ास्थली बन गया।

इस शैली के माघोत्तर काव्यों मे रत्नाकर का **हरविजय**, शिवस्वामी का **कप्फिणाभ्युदय** (दोनों नवीं शताब्दी), मंख का **श्रीकण्ठचरित**, श्रीहर्ष का **नैषधचरित** (दोनों बारहवीं शताब्दी) आदि प्रमुख हैं। इन महाकाव्यों में पानगोष्ठी, सैन्यप्रयाण, युद्ध-वर्णन आदि रीतिबद्ध तथा गतानुगतिक वर्णनों का बाहुल्य है, जिससे इनका प्रतिपाद्य गौण बन गया है। श्रीहर्ष ने **नैषधचरित** में नल-दमयन्ती के विवाह के कथातन्तु को पकड़ कर अलंकृति तथा प्रौढ़ि को चरमसीमा तक पहुँचा

---

१. डॉ. एस. के. डे : हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ. १७४

दिया है, जिससे उसमें तत्कालीन काव्य-परम्परा के सभी गुण और दोष समाविष्ट हो गये हैं। श्रीहर्ष की दार्शनिक एवं शास्त्रीय विदग्धता ने काव्य को इस प्रकार आक्रान्त कर लिया है कि यह विद्वत्तापूर्ण काव्य-ग्रन्थ ही नहीं, अपितु परम्परागत प्राचीन पाण्डित्य की विशाल निधि बन गया है। **नैषधचरित** माघोत्तर काल के सूक्तिवादी काव्यों में मूर्धन्य है, किन्तु कालिदास, भारवि अथवा माघ की कोटि का नहीं।[१] इस प्रकार संस्कृत महाकाव्य प्रणयन कालिदास के बाद ह्रासोन्मुख होकर रूढ़िपालन और चमत्कार-प्रदर्शन का प्रयत्नमात्र रह गया।

प्राकृत में सातवीं शताब्दी में लिखा गया वाक्पतिराज का **गउडवहो** इस शैली का महाकाव्य माना जा सकता है। इसमें १२०८ गाथाओं में अपने आश्रयदाता, कन्नौज नरेश यशोवर्मा (आठवीं शताब्दी) द्वारा गौड़ के राजा की पराजय तथा वध का वर्णन करना वाक्पतिराज को अभीष्ट है। फिर भी, इसका ऐतिहासिक मूल्य नगण्य है। कवि की ऐतिहासिक निष्ठा का अनुमान तो इसी से किया जा सकता है कि सम्पूर्ण काव्य में गौड़राज के नाम तक का भी उल्लेख नहीं हुआ है। अत्यन्त अलंकृत वर्णनों, दुरूह कल्पनाओं, विद्वत्तापूर्ण सन्दर्भों तथा अनावश्यक वस्तु-व्यापार-वर्णनों से इस काव्य का कलेवर बोझिल हो गया है। इस काव्य की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें ग्राम्य-जीवन और दृश्यों का बहुत ही यथार्थ और जीवन्त चित्रण हुआ है। यद्यपि महाकाव्य-लक्षणों की दृष्टि से इसमें अनेक त्रुटियाँ हैं, तथापि परम्पराबद्ध शास्त्रीय महाकाव्य की रूढ़ियों का अप्रासंगिक वस्तु-व्यापार-वर्णनों के रूप में पालन किया गया है। इसीलिए इसे रीतिबद्ध शास्त्रीय महाकाव्य माना जा सकता है। प्राकृत में रामपाणिपाद कृत **उसाणिरुद्ध** नामक एक प्रबन्ध-काव्य और मिलता है, किन्तु विद्वान् उसे महाकाव्यों की श्रेणी में स्थान नहीं देते।

(ग) शास्त्रकाव्य और सन्धानकाव्य

अलंकृत शैली की प्रवृत्ति का एक अन्य रूप शास्त्रकाव्यों और सन्धानकाव्यों में उपलब्ध होता है। शास्त्रकाव्यों में काव्य के व्याज से व्याकरण आदि शास्त्रों की व्यावहारिक शिक्षा देने की चेष्टा की गयी है, जिससे उनका शास्त्रपक्ष प्रबल हो गया है और वे काव्याकार शास्त्र बन गये हैं।

---

१. डॉ. एस. के. डे : हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ. ३३०

छठी शती के वैयाकरण कवि भट्टि का **रावणवध** या **भट्टिकाव्य** इस शैली का प्रथम महाकाव्य है। इसमें रामजन्म से राज्याभिषेक तक की राम-कथा के वर्णन के साथ-साथ व्याकरण और अलंकार के प्रयोग भी बताये गये हैं। कवि ने निश्चित योजना के अनुसार काव्य को—प्रकीर्ण, अधिकार, प्रसन्न तथा तिङन्त—चार काण्डों में विभक्त किया है। प्रथम दो तथा अन्तिम काण्डों में व्याकरण के नियमों की प्रायोगिक व्याख्या है, तृतीय काण्ड अलंकारशास्त्र से सम्बन्द्ध है। यह काव्य इतना लोकप्रिय हुआ कि जावा और बाली तक में इसका प्रचार हुआ और इसकी दर्जनों टीकाएं लिखी गयीं। वस्तुत: यह काव्य के साथ व्याकरणशास्त्र का ग्रन्थ भी है, इसीलिए इसे शास्त्र-काव्य भी कहा जाता है। भट्टि की निम्नलिखित उक्ति विकल्पनामात्र नहीं हैं।

दीपतुल्य: प्रबन्धोयं शब्दलक्षण चक्षुषाम्।
हस्तादर्श इवान्धानां भवेद् व्याकरणादृते॥[१]

शास्त्रकाव्य के उदाहरणस्वरूप क्षेमेन्द्र ने **भट्टिकाव्य** के साथ भट्टिभीम (भूम अथवा भौमक) के **रावणार्जुनीय** का उल्लेख किया है।[२] **रावणार्जुनीय** के २७ सर्गों में लंकापति रावण तथा कार्तवीर्य अर्जुन के युद्ध-वर्णन के साथ-साथ अष्टाध्यायी के क्रमानुसार व्याकरण के सिद्ध प्रयोग दिखाये गये हैं। दिवाकर के **लक्षणादर्श** में भी समस्त पाणिनीय शास्त्र के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। हलायुध का **कविरहस्य** राष्ट्रकूट के नरेश कृष्णराज तृतीय (९४०-५३ई.) की प्रशस्ति है, किन्तु वास्तव में काव्य के माध्यम से धातुरूपों की तालिका प्रस्तुत करना कवि को अभीष्ट है। इस शैली का एक अन्य काव्य केरल प्रान्त के कवि वासुदेव का **वासुदेवविजय** है। इसके तीन सर्गों में कवि के इष्टदेव कृष्ण वासुदेव की स्तुति के साथ-साथ पाणिनि-सूत्रों के दृष्टान्त प्रस्तुत किये गये हैं। केरल के एक अन्य कवि नारायण ने परिशिष्ट रूप में तीन सर्गों का धातुबहुल **धातुकाव्य** लिखकर इसकी पूर्ति की है। **धातुकाव्य** के कथानक का अन्त कंसवध से होता है।

जैन कवियों ने भी साहित्य की इस विधा को समृद्ध बनाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। मूल कवि के **प्रतिज्ञा-गांगेय** में कातन्त्र-व्याकरण के नियमों के प्रायोगिक उदाहरणों के साथ भीष्म पितामह का चरित वर्णित है। इसकी

---

१. भट्टिकाव्य, २२,३३
२. सुवृत्ततिलक, ३.४

एक हस्तलिखित प्रति पाटण के भण्डार में विद्यमान है।[१] हेमचन्द्र (१०८९-११७३ई.) का **कुमारपालचरित** इतिहास और व्याकरण से सम्बन्द्ध होने के कारण **द्व्याश्रयकाव्य** है। इसके प्रथम बीस सर्गों की रचना संस्कृत में हुई है, शेष आठ सर्ग प्राकृत में निबद्ध हैं। **कुमारपालचरित** में अणहिलवाड़ के चालुक्यनरेश कुमारपाल तथा उसके पूर्वजों का इतिहास वर्णित है। इसके साथ काव्य में लेखक के संस्कृत तथा प्राकृत के व्याकरणों के उदाहरण भी उपन्यस्त हैं। जिनप्रभसूरि **का श्रेणिक द्व्याश्रयकाव्य** श्रमणभगवान् महावीर स्वामी के अनन्य उपासक श्रेणिक नरेश्वर का भुवनचरित प्रस्तुत करता है। साथ ही कातन्त्र व्याकरण की दुर्गसिंह कृत वृत्ति के नियमों के उदाहरण भी इसमें समाहित हैं।[२]

प्राकृत के कृष्णलीलांशुक कृत **सिरिचिंधकव्व** की गणना शास्त्रीय महाकाव्यों में की जाती है। यह १२ सर्गों की गाथाबद्ध रचना है। इसके प्रारम्भिक आठ सर्ग कृष्णलीलांशुक द्वारा और अन्तिम चार उनके शिष्य दुर्गाप्रसाद द्वारा लिखे गये हैं। इसमें कृष्ण-लीला-वर्णन के साथ-साथ वररुचि और त्रिविक्रम के प्राकृत व्याकरणों के प्रायोगिक उदाहरण भी प्रस्तुत किये गये हैं। वस्तुत: यह भट्टिकाव्य की परम्परा का काव्य है। इसमें पाण्डित्य तो है, किन्तु रसपूर्णता नहीं है। शास्त्र-काव्यों के समान **सिरिचिंधकव्व** में कवि के पाण्डित्य से उसके कवित्व को अभिभूत कर लिया गया है। यही कारण है कि सामान्य पाठक के लिये यह दुर्बोध एवं नीरस हो गया है।

शास्त्रीय शैली का एक रूप शास्त्रकाव्यों के अतिरिक्त सन्धान-महाकाव्यों में दृष्टिगोचर होता है। संस्कृत भाषा में एक ओर जहाँ एक वस्तु के अनेक पर्यायवाची होते हैं, वहाँ कुछ ऐसे शब्द भी हैं, जिनके अनेक अर्थ पाये जाते हैं। संस्कृत की इस विशिष्टता से ही सन्धान -महाकाव्यों का सृजन प्रारम्भ हुआ। जिन महाकाव्यों में एकाधिक कथानकों को विविध अलंकारों के बल पर ऐसा गुम्फित किया जाये कि पाठक चमत्कृत हो उठें, उन्हें सन्धान-महाकाव्य कहा जाता है। ऐसे महाकाव्यों का प्रधान लक्ष्य चमत्कृति और पाण्डित्य प्रदर्शन ही होता है। इस विलक्षण विधा का जैन मनीषियों द्वारा संस्कृत काव्य के क्षेत्र में सर्वप्रथम प्रयोग किया गया। उन्होंने सन्धान अर्थात् श्लेषमय चित्रकाव्यों की रचना और उसका

---

१. हीरालाल कापड़िया : जैन संस्कृत साहित्य नो इतिहास, भाग २ उपखण्ड १, पृ.१९५
२. वही

स्तोत्र-साहित्य के रूप में भी विकास किया है। उन्होंने द्विसन्धान, चतुस्सन्धान, पंचसन्धान, सप्तसन्धान एवं चतुर्विंशति-सन्धान आदि सन्धान-महाकाव्यों की रचना की है।

काव्य-जगत् में सन्धान-काव्यों की ओर कवियों की प्रवृत्ति पाँचवी-छठी शताब्दी ईस्वी से हुई। वसुदेवहिण्डी की **चत्तारि-अट्ठगाथा** के चौदह अर्थ किये गये हैं। संस्कृत के उपलब्ध सन्धान-महाकाव्यों मे जैन कवि धनञ्जय कृत १८ सर्गों का **द्विसन्धान-महाकाव्य** (आठवीं शती) सर्वप्रथम महाकाव्य है। इसमें श्लेष की सहायता से रामायण की कथा के साथ-साथ महाभारत की कथा भी वर्णित है। इन्हीं दो कथानकों को लेकर कालान्तर मे कविराज माधवभट्ट ने एक दूसरा महाकाव्य **राघवपाण्डवीय** तेरह सर्गों में लिखा। जैन सिद्धान्त भवन, आरा में ग्यारहवीं शती के **पंचसन्धान-महाकाव्य** की कन्नड़ पाण्डुलिपि उपलब्ध है। इसके रचयिता शान्तिराजकवि हैं । वि. सं. १०९० में सूराचार्य ने **नेमिनाथचरित** (नाभेयनेमिद्विसन्धान) की रचना की। इसके श्लेषमय पद्यों से नेमिनाथ के साथ ऋषभदेव के जीवन-चरित का काव्यार्थ भी घटित होता है। बृहद्गच्छीय हेमचन्द्र सूरि का **नाभेयनेमिद्विसन्धान** (बारहवीं शताब्दी) भी एक अन्य रचना है। इस काव्य में भी नेमि और ऋषभ की कथाएं समानान्तर रूप से वर्णित हैं। कहा जाता है कि इसका संशोधन कविचक्रवर्ती श्रीपाल ने किया है। इस काव्य की पाण्डुलिपियाँ बड़ौदा और पाटण भण्डार में सुरक्षित हैं। बारहवीं शताब्दी में कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्र ने **सप्तसन्धान-महाकाव्य** लिखा, जिसके प्रत्येक पद्य से सात अर्थ निकलते हैं। यह काव्य अनुपलब्ध है। इसी समय के लगभग सन्ध्याकरनन्दी ने **रामचरित** की रचना की जिसमें बंगाल के राजा रामपाल के जीवनचरित के साथ-साथ रामायण की कथा भी निबद्ध है। बारहवीं शताब्दी के लगभग ही विद्यामाधव ने **पार्वतीरुक्मिणीय** की रचना की, जिसमें शिव-पार्वती तथा कृष्ण-रुक्मिणी विवाहों का समानान्तर वर्णन है।

आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य वर्धमानगणि ने **कुमारविहारप्रशस्तिकाव्य** की रचना की। उन्होंने इसके ८७ वें पद्य में ऐसी अद्भुत अनेकार्थी संयोजना की, कि प्रारम्भ में उन्होंने उसके ६ अर्थ किये, किन्तु कालान्तर में उनके शिष्य ने उसके ११६ अर्थ किये। उनमें ३१ कुमारपाल, ४१ हेमचन्द्राचार्य और १०९ अर्थ वाग्भट मंत्री के सम्बन्ध में निकलते हैं। यह पद्य अहमदाबाद से अनेकार्थ-साहित्य-संग्रह,

प्राचीन साहित्योद्धार ग्रन्थावली के द्वितीय पुष्प में टीका के साथ प्रकाशित हो चुका है।

वर्धमानगणि के समकालीन सोमप्रभाचार्य ने **शतसन्धान-काव्य** के रूप में एक पद्य की रचना की और उस पर अपनी टीका लिखी। इस पद्य के उन्होंने १०६ अर्थ किये हैं, जिनमें २४ तीर्थंकर, ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा चौलुक्यराज जयसिंह, कुमारपाल, अजयपाल आदि के अर्थ सम्मिलित हैं। यह भी अहमदाबाद से अनेकार्थ-साहित्य-संग्रह में प्रकाशित हो चुका है।

पन्द्रहवीं से बीसवीं शती तक जैन कवियों ने इस दिशा में प्रचुर रचनाएं लिखीं। उनमें महोपाध्याय समयसुन्दररचित **अष्टलक्षी**[1] (सं. १६४९) भारतीय काव्य-साहित्य का ही नहीं, विश्व-साहित्य का अद्वितीय रत्न है। कहा जाता है कि एक बार सम्राट् अकबर की विद्वत्-सभा में जैनों के 'एगस्स सुतस्स अणन्तो अत्थो' वाक्य का किसी ने उपहास किया। यह बात महोपाध्याय समयसुन्दर को बुरी लगी और उन्होंने उक्त सूत्र-वाक्य की सार्थकता बतलाने के लिये **राजानो ददते सौरव्यम्**—इस आठ अक्षर वाले वाक्य के दस लाख बाईस हजार चार सौ सात अर्थ किये। वि. सं. १६४९ श्रावण शुक्ला त्रयोदशी को जब सम्राट् ने कश्मीर का प्रथम प्रयाण किया, तो उसने प्रथम शिविर राजा श्री रामदास की वाटिका में स्थापित किया। यहाँ सन्ध्या के समय विद्वत्-सभा एकत्र हुई, जिसमें सम्राट् अकबर, शहजादा सलीम, अनेक सामन्त, कवि, वैयाकरण एवं तार्किक विद्वान् सम्मिलित थे। सबके सम्मुख कविवर समयसुन्दर ने अपना यह ग्रन्थ पढ़कर सुनाया, जिसे सुनकर सम्राट् एवं सभासद आश्चर्यचकित रह गये। कवि ने उक्त अर्थों में से असम्भव या योजनाविरुद्ध पड़ने वाले अर्थों को निकालकर इस ग्रन्थ का नाम **अष्टलक्षी** रखा।

सोलहवीं तथा सतरहवीं शती के लगभग वेंकटाध्वरि कृत **यादवराघवीय**, सोमेश्वर कृत **राघवयादवीय**, चिदम्बर कृत **राघवपाण्डवयादवीय** आदि जैनेतर सन्धान-महाकाव्यों का निर्माण हुआ। **यादवराघवीय** में रामायण की कथा के साथ भागवत की कथा का वर्णन है। **राघवयादवीय** में राम तथा कृष्ण की कथाओं का १५ सर्गों में एकसाथ वर्णन किया गया है। **राघवपाण्डवयादवीय** में रामायण, महाभारत तथा भागवत की कथाओं का तीन सर्गों में एकसाथ संयोजन किया गया है।

---

१. द्रष्टव्य-अष्टलक्षी, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, सूरत, ग्रन्थाङ्क ८

जैन कवि लाभविजय ने

तमो दुर्वाररागादि वैरिवारनिवारणे।
अर्हते योगिनाथाय महावीराय तायिने।

पद्य के पांच सौ अर्थ किये हैं।[१]

'दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ'[२] से सूचना प्राप्त होती है कि मनोहर और शोभन कवियों द्वारा **चतुस्सन्धान-काव्य** की रचना की गयी। इसी ग्रन्थ से नरेन्द्रकीर्ति के शिष्य जगन्नाथ के **सप्तसन्धान-काव्य** की सूचना भी प्राप्त होती है। जगन्नाथ कवि का एक **चतुर्विंशतिसन्धान-काव्य** भी उपलब्ध है। इस ग्रन्थ में श्लेषमय एक ही पद्य से २४ तीर्थंकरों का अर्थबोध होता है। वह पद्य निम्नलिखित है—

श्रेयान् श्रीवासुपूज्यो वृषभजिनपतिः श्रीद्रुमाङ्कोऽथ धर्मो
हर्यङ्कः पुष्पदन्तो मुनिसुव्रतजिनोऽनन्तवाक् श्रीसुपार्श्वः।
शान्तिः पद्मप्रभोरो विमलविभुरसां वर्धमानोऽप्यजाङ्को,
मल्लिर्नेमिर्ननमिर्मां सुगतिरवतु सच्छ्रीजगन्नाथधीरम्॥[३]

चतुर्विंशतिसन्धान-काव्य के अन्त में कवि जगन्नाथ ने काव्य के रचनाकाल का निर्देश किया है। तदनुसार उन्होंने वि. सं.१६९९ ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी रविवार के दिन सुन्दर भवनों से सुशोभित अम्बावत् नामक नगर में इस काव्य की रचना की।[४] पं. कैलाश चन्द्र शास्त्री ने इन्हें पण्डितराज जगन्नाथ से अभिन्न माना है और रसगंगाधर के रचयिता के रूप में सम्भावना प्रकट की है।[५] डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री कैलाशचन्द्र जी की सम्भावना को भ्रान्ति मानते हैं, क्योंकि इस काव्य के संस्कृत टीकाकार स्वयं कवि जगन्नाथ हैं और टीका के अन्त में उनके द्वारा अंकित पुष्पिका

---

१. द्रष्टव्य-जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग ८, किरण १
२. गांधी नाथारंगजी, शोलापुर, १९२८से प्रकाशित
३. चतुर्विंशतिसन्धान-काव्य, जैन हितैषी, बम्बई, भाग ६, अंक ५-६ में प्रकाशित, पृ.१
४. नयनयधररूपाङ्के सुवत्से तपोमासे इह विशदपञ्चम्यां च सत्सौरिवारे।
विहित जिनमहोऽम्बावत्पुरे सौधशुभ्रे सुजिननुतिकार्षीच्छ्रीजगन्नाथनामा॥
चतुर्विंशतिसन्धान-काव्य, अन्त्यप्रशस्ति पद्य
५. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग ५, किरण ४, पृ.२२५

से स्पष्ट है कि कवि जगन्नाथ रसगंगाधर के कर्ता जगन्नाथ से भिन्न हैं।[१] निस्सन्देह कवि जगन्नाथ संस्कृत भाषा के प्रौढ़ पण्डित हैं और उनकी कवित्वशक्ति भी अपरिमित है। टीका के प्रारम्भ में मंगलाचरण करते हुए लिखा है—

प्रणम्याङ्घ्रियुग्मं जिनानां जगन्नाथपूज्याङ्घ्रिपाथोरुहाणाम्।
वरैकाक्षरार्थैर्महायुक्तियुक्तैः सुवृत्तिं च तेषां नुतेश्चर्करीमि॥
वाग्देवतायाश्चरणाम्बुजद्वयं स्मरामि शब्दाम्बुधिपारदं वरम्।
यन्नाममात्रस्मरणोत्थयुक्तयो हरन्त्यद्यं कोविदमानसीमिति॥[२]

अठारहवीं शती के महोपाध्याय मेघविजय की रचना **सप्तसन्धान** (सं. १७६०) भी अनुपम है। यह काव्य नौ सर्गों में लिखा गया है। प्रत्येक श्लेषमय पद्य से ऋषभ, शान्ति, नेमि, पार्श्व और महावीर—पाँच तीर्थंकर, राम तथा कृष्ण इन सात महापुरुषों के चरित्र का अर्थ निकलता है। इसी शती में हरिदत्त सूरि ने दो सर्गों का **राघवनैषधीय** नामक काव्य लिखा। इसमें राम और नल की कथा गुम्फित है।

उपर्युक्त काव्यों के अतिरिक्त सन्धान-विधा में कतिपय स्तोत्र भी उपलब्ध होते हैं। श्री अगरचन्द नाहटा ने सन्धान-शैली के स्तोत्रों में ज्ञानसागर सूरि रचित **नवखण्डपार्श्वस्तव**, सोमतिलकसूरिरचित विविधार्थमय **सर्वज्ञस्तोत्र**, रत्नशेखर सूरिरचित नवग्रहगर्भित **पार्श्वस्तवन** तथा **पार्श्वस्तव** मेघविजय रचित **पंचतीर्थीस्तुति**, समयसुन्दर रचित **द्व्यर्थ-कर्णपार्श्वस्तव** आदि का नामोल्लेख किया है।

निष्कर्ष

इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय में संस्कृत महाकाव्य परम्परा की पृष्ठभूमि में सन्धानात्मक काव्य-विधा के उद्भव और विकास पर विचार किया गया है। विश्वजनीन महाकाव्य-प्रवृत्ति के सन्दर्भ में महाकाव्य-परम्परा सामूहिक नृत्य-गीत, आख्यानक नृत्य-गीत, लोकगाथा तथा गाथाचक्र आदि विभिन्न अवस्थाओं से विकसित हुई है। विश्व के समस्त देशों में इन अवस्थाओं से सम्बद्ध नृत्य-गीत आज भी उपलब्ध होते हैं। भारतीय सन्दर्भ में भी वैदिक संवाद-सूक्त लोकगाथाओं के रूप में तथा वैदिक सुपर्णाख्यान आदि गाथाचक्र के रूप में देखे

---

१. नेमिचन्द्र शास्त्री: संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, पृ. ४२
२. चतुर्विंशतिसन्धान-काव्य, १-२

जा सकते हैं। महाकाव्य की इन्हीं आद्य-अवस्थाओं से भारतीय महाकाव्य परम्परा पल्लवित हुई, जिसकी अनवच्छिन्न परम्परा अद्यपर्यन्त सतत प्रवहमान है। विश्व के सभी महाकाव्यों को सामान्यत: विकसनशील महाकाव्य तथा अलंकृत महाकाव्य— इन दो धाराओं में विभाजित किया जा सकता है। विकसनशील महाकाव्यों का सृजन गाथाचक्रों के माध्यम से होता है। इस प्रकार के महाकाव्य प्रारम्भिक वीर युग तथा सामन्ती वीर युग में विकसित हुए। भारत में रामायण और महाभारत इसी श्रेणी के महाकाव्य हैं। जैन परम्परा की दृष्टि से जैन पुराणों को विकसनशील महाकाव्यों के समकक्ष रखा जा सकता है। अलंकृत महाकाव्य प्राय: विकसनशील महाकाव्यों से कथा-वस्तु लेकर रचे जाते हैं। इनमें काव्य-सौष्ठव के प्रति विशेष आग्रह होता था। कालान्तर में नैसर्गिकता का ह्रास होने के कारण इन्हें अनुकृत अथवा दरबारी महाकाव्य भी कहा जाने लगा। इस श्रेणी के महाकाव्यों को चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है— (१) पौराणिक शैली के महाकाव्य, (२) ऐतिहासिक शैली के महाकाव्य, (३) रोमांचक या कथात्मक महाकाव्य तथा (४) शास्त्रीय महाकाव्य। इन चारों वर्गों में से अन्तिम अर्थात् शास्त्रीय महाकाव्य ही संस्कृत काव्यशास्त्रीय मान्यताओं को शुद्ध रूप से प्रतिष्ठापित करने वाले हुए। ये महाकाव्य पुन: रससिद्ध रूढ़िबद्ध, शास्त्रकाव्य अथवा सन्धान-काव्य के रूप में वर्गीकृत किये जा सकते हैं। रससिद्ध काव्यों में अश्वघोष, कालिदास आदि के महाकाव्य या खण्डकाव्य आते हैं। भारवि प्रभृति परवर्ती कवियों के काव्य रूढ़िबद्ध काव्यों में आते हैं। सन्धान-काव्य उक्त दोनों वर्गों से विलक्षण नानार्थक महाकाव्यों की एक अन्य श्रेणी है। इनमें एकाधिक कथानकों को श्लेष, यमक आदि विभिन्न अलंकारों के बल पर गुम्फित किया जाता है। यद्यपि सन्धान-शैली में काव्य-रचना की प्रवृत्ति प्राकृत आदि भाषाओं में पाँचवीं-छठी शती में ही प्रारम्भ हो चुकी थी, तथापि संस्कृत महाकाव्यों के सन्दर्भ में **द्विसन्धान-महाकाव्य** सन्धान-शैली का **आदि-महाकाव्य** है। आठवीं शती के इस महाकाव्य के अनन्तर सन्धानात्मक काव्य-शिल्प अपने विकास की चरमावस्था को प्राप्त हुआ और अठारहवीं शती तक द्विसन्धान, त्रिसन्धान, चतुस्सन्धान, सप्तसन्धान, चतुर्विंशतिसन्धान आदि काव्यों एवं महाकाव्यों को लिखने की प्रतिस्पर्धा सी होने लग गयी।

द्वितीय अध्याय

महाकवि धनञ्जय : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

संस्कृत साहित्य में धनञ्जय नाम के दो आचार्य प्रसिद्ध हुए हैं। इनमें से एक, महामुनि भरत की परम्परा में हुए हैं। इनके पिता का नाम विष्णु था। ये मालव के परमारवंशीय राजा मुंज (वाक्पतिराज द्वितीय, अमोघवर्ष, पृथ्वीवल्लभ, श्रीवल्लभ) की राज्यसभा में कवि थे। मुंज की राजधानी उज्जैन थी। वाक्पतिराज द्वितीय के उपलब्ध शिलालेखों से प्रतीत होता है कि धनञ्जय ९७४-७९ ई. के मध्य हुए और ९९४ ई. तक रहे।[१] इनकी प्रसिद्ध कृति दशरूपक है। द्वितीय धनञ्जय दिगम्बर जैन-सम्प्रदाय के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् थे। यही धनञ्जय द्विसन्धान-महाकाव्य के लेखक थे तथा प्रस्तुत ग्रन्थ में इन्हीं धनञ्जय के विषय में विचार करना अभीष्ट है।

धनञ्जय का काल

धनञ्जय ने स्वयं अपने विषय में अपनी किसी भी कृति में कोई विशेष जानकारी नहीं दी। किन्तु, पाठक, भण्डारकर, राघवाचारियर, वेंकटसुब्बइया, विंटरनित्ज़, कीथ, कृष्णमाचारियर प्रभृति साहित्यिक इतिहासकारों ने धनञ्जय तथा उनके द्विसन्धान-महाकाव्य के विषय में अपने अध्ययन द्वारा विस्तृत जानकारी प्रस्तुत की है। धनञ्जय के काल से सम्बद्ध इनके मतों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार ही—

(१) डॉ. के.बी. पाठक का मत (११२३-११४०ई.)

तेर्दाळ् के एक कनड़ी अभिलेख का सम्पादन करते समय डॉ. पाठक ने पैंतीसवीं पंक्ति में निर्दिष्ट श्रुतकीर्ति त्रैविद्य का कन्नड़ कवि अभिनवपम्प (नागचन्द्र)

---

१. डॉ. श्रीनिवासशास्त्री: दशरूपक की भूमिका, मेरठ, १९७६, पृ. १३-१४

द्वारा उल्लिखित राघवपाण्डवीय के कर्ता श्रुतकीर्ति त्रैविद्य से तादात्म्य स्थापित किया।[१] अभिनवपम्प प्रणीत रामचन्द्रचरित अथवा पम्परामायण में राघवपाण्डवीय काव्य को गतप्रत्यागत शैली में निबद्ध माना गया है।[२] इस तादात्म्य को दृष्टि में रखकर डॉ. पाठक ने कनड़ी अभिलेख के समय शक सं. १०४५ (११२३ई.) को आधार बनाकर धनञ्जय का समय निश्चित किया है।

प्रो. मैक्समूलर ने 'इत्सिंग्ज़ रिकार्ड आफ बुद्धिस्ट प्रैक्टिसिज़ इन द वैस्ट' के जे. ताकाकुसु कृत अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित अपने एक पत्र में डॉ. पाठक के मत पर आक्षेप करते हुए कहा, "काव्यालंकार सूत्र के कर्ता वामन ने कविराज कृत राघवपाण्डवीय का उल्लेख किया है", किन्तु पाठक ने 'इन्डियन एण्टीक्वेरी, १८८३' के पृ. २० पर राघवपाण्डवीय काव्य को आर्य श्रुतकीर्ति (शक सं. १०४५) की रचना बताने का प्रयत्न किया है।[३] प्रो. मैक्समूलर के इस कथन का निराकरण करने के लिये डॉ. पाठक ने कविराज कृत तथा धनञ्जय कृत राघवपाण्डवीय नाम की दो कृतियों का उल्लेख करते हुए धनञ्जय के काल पर 'जर्नल ऑफ बाम्बे ब्रांच रायल एशियाटिक सोसाइटी, भाग २१, १९०४' में पृ. १-३ पर 'दी जैन पोइम राघवपाण्डवीय ए रिप्लाई टू प्रो. मैक्समूलर' शीर्षक से एक लेख प्रकाशित करवाया। इस लेख में उन्होंने अपने मत को पुष्ट करने के लिये निम्नलिखित तथ्य प्रस्तुत किये–

(१) तेर्दाळ् के कन्नड़ अभिलेख, शक सं. १०४५ (११२३ई.) में श्रुतकीर्ति त्रैविद्य नाम के आचार्य का उल्लेख है। इस अभिलेख में श्रुतकीर्ति त्रैविद्य को राघवपाण्डवीय का कर्ता नहीं कहा गया है, किन्तु उसे षड्दर्शन में निष्णात तथा विरोधी तार्किकों को निष्प्रभ करने वाला कहा गया है। वह पुस्तकगच्छ मूलसंघ के देशीगण से सम्बन्धित कोल्हापुर (कोल्लागिरि) स्थित रूपनारायण बसदि के प्रधान पुरोहित माघनन्दी सैद्धान्तिक का शिष्य था। माघनन्दि सैद्धान्तिक का उल्लेख श्रवणबेल्गोला के अभिलेख न. ४० (शक सं. १०८५ या ११६३ ई.)में हुआ है।[४]

---

१. I.A., भाग १४,१८८३,पृ.१४-२६

२. श्रुतकीर्तित्रैविद्यव्रति राघवपाण्डवीयमं विबुधचम-
त्कृतियेनिसि गतप्रत्यागतदिं पेळ्दमळ्कीर्तियं प्रकटिसिदं ॥ पम्परामायण,१.२५

३. JBBRAS, भाग २१,१९०४,पृ.१

४. द्रष्टव्य -जैनशिलालेखसंग्रह, भाग १,१९२८,पृ.२८

(२) अभिनवपम्प (नागचन्द्र, शक सं. १०६७) ने अपने रामचन्द्रचरित अथवा पम्परामायण के पद्य १.२५ में जैनाचार्य श्रुतकीर्ति त्रैविद्य और गतप्रत्यागत शैली में रचित उसके राघवपाण्डवीय का उल्लेख किया है।

(३) तेर्दाळ् अभिलेख का कर्ता राघवपाण्डवीय के विषय में अनभिज्ञ है, जबकि श्रवणबेल्गोला का शिलालेख नं. ४० अभिनवपम्प के पद्यों को श्रुतकीर्ति त्रैविद्य के पद्य रूप में उल्लेख करता है और श्रुतकीर्ति की पहचान तेर्दाळ् अभिलेख में उल्लिखित श्रुतकीर्ति से करता है।[१] अतः यह निष्कर्ष निकालना सहज है कि श्रुतकीर्ति त्रैविद्य की कृति शक सं. १०४५ में नहीं रची गयी होगी और यह भी कि यह शक सं. १०६७ और १०८५ में प्रसिद्ध हुई होगी।

(४) वर्धमान (वि.सं. ११९७ या शक सं. १०६२) ने अपने गणरत्नमहोदधि में राघवपाण्डवीय का अनेक बार उद्धरण दिया है।[२] चालुक्य राजा जगदेकमल्ल द्वितीय (शक सं. १०६२-७२) के समकालीन दुर्गसिंह के अनुसार धनञ्जय राघवपाण्डवीय की रचना से सरस्वती के स्वामी अथवा बृहस्पति बन गये।[३] यह कथन श्रुतकीर्ति के सन्दर्भ में होना चाहिए, जिनका समय शक सं. १०४५ है। इस आधार पर यह मानना अयुक्तिसंगत होगा कि शक. सं. १०४५ से १०६२ के मध्य अल्पकाल में दिगम्बर सम्प्रदाय के दो लेखकों द्वारा एक ही शीर्षक से दो द्व्यर्थक संस्कृत काव्य लिखे गये हों।

अतएव, उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि धनञ्जय श्रुतकीर्ति का अपरनाम था और उनके ग्रन्थ का काल शक. स. १०४५ (११२३ ई.) से १०६२ (११४०ई.) के मध्य निर्धारित किया जा सकता है।

डॉ. पाठक के समर्थक साहित्यिक इतिहासकार

एम. विन्टरनित्ज़, ए.बी. कीथ, एस. के. डे प्रभृति साहित्यिक इतिहासकारों ने डॉ. पाठक के मत को अपने संस्कृत साहित्य के इतिहासों में उद्धृत करके उसका समर्थन किया। एम. विन्टरनित्ज़ १९२२ ई. में लिपज़िग से प्रकाशित अपने 'गेशिस्ते देर् इन्द्रिशेन लितेरचर' (भारतीय साहित्य का इतिहास), भाग ३ (जर्मन

---

१. द्रष्टव्य -जैनशिलालेखसंग्रह, भाग १, १९२८, पृ. २७-२८

२. गणरत्नमहोदधि, ४६, १०.५१, १८.२२

३. अनुपमकविव्रजं जीयेने राघवपांडवीयमं पेळ्दु यशोवनिताधीश्वरनादं धनञ्जयं वाग्वधूपियं केवळने ॥ कन्नड़ पञ्चतन्त्र, ८

संस्करण) में, जिसका अंग्रेजी अनुवाद १९६३ ई. में वाराणसी से प्रकाशित हुआ, पृ. ७५ पर यह स्वीकार करते हैं कि धनञ्जय ने ११२३-११४०ई. के मध्य श्रुतकीर्ति के नाम से राघवपाण्डवीय ग्रन्थ लिखा। उन्होंने कदम्बवंशीय कामदेव (११८२-९७ई.) के सभाकवि कविराज से उन्हें पूर्ववर्ती माना। वे वामन की काव्यालंकारवृत्ति[१] में उल्लिखित कविराज से भिन्न हैं।

ए.बी. कीथ १९४८ ई. में आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस से प्रकाशित अपने 'ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर' में पृ. १३७ पर कहते हैं कि दिगम्बर जैन लेखक धनञ्जय जिन्हें सम्भवत: श्रुतकीर्ति कहा जाता था, ने ११२३ और ११४० ई. के मध्य अपना ग्रन्थ लिखा। इसके पश्चात् कविराज का नाम आता है, जिनका वास्तविक नाम कदाचित् माधवभट्ट था और जिनके आश्रयदाता कदम्बवंशीय राजा कामदेव (११८२-९७ई.) थे।

एस. के. डे १९६२ ई. में कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित अपने 'संस्कृत साहित्य के इतिहास', भाग १ में पृ. ३४० पर कहते हैं कि वासुदेव और श्रीदेवी के पुत्र दिगम्बर जैन धनञ्जय अर्थात् श्रुतकीर्ति त्रैविद्य का राघवपाण्डवीय, जिसे द्विसन्धान-काव्य भी कहा गया है, ११२३ और ११४० ई. के मध्य लिखा गया। इसके पश्चात् कविराजकृत एक और राघवपाण्डवीय उपलब्ध होता है। कविराज का वास्तविक नाम सम्भवत: माधवभट्ट था। इन्होंने जयन्तपुरी के कादम्ब कामदेव (११८२-९७ई.) के आश्रय से प्रसिद्धि प्राप्त की।

डॉ. पाठक के मत की समीक्षा

धनञ्जय के काल-विषयक डॉ. पाठक के मत की आर. जी. भण्डारकर[२], ए. वैंकटसुब्बइया[३], ए.एन. उपाध्ये[४], वी.वी. मिराशी[५] प्रभृति विद्वानों ने आलोचना की

---

१. काव्यालंकारवृत्ति, ४.१.१०.

२. रिपोर्ट आन दी सर्च फार मैनुस्क्रिप्ट्स इन दी बाम्बे प्रैसीडेंसी ड्युरिंग दी इयर्स १८८४-८५, १८८५-८६ तथा १८८६-८७, बम्बई, १८९४, पृ. १९-२०

३. JBBRAS(न्यू सीरीज), भाग ३, १९२७, पृ.१३६-१३८

४. श्री १०८ चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर स्मृति-ग्रन्थ, फलटण, १९७३, पृ. ३०९-१०

५. लिटरेरी एण्ड हिस्टोरिकल स्टडीज इन इन्डोलोजी, दिल्ली, १९७५, पृ. २८-३०

और उसे भ्रमात्मक सिद्ध किया। जिन तथ्यों के आधार पर डॉ. पाठक के मत की आलोचना की गयी, वे इस प्रकार हैं—

(१) डॉ. पाठक धनञ्जय को रचयिता तो मानते हैं और श्रुतकीर्ति को धनञ्जय की उपाधि स्वीकार करते हैं, परन्तु द्विसन्धान-काव्य में उन्होंने कहीं भी इस श्रुतकीर्ति त्रैविद्य जैसी उपाधि का उल्लेख नहीं किया है। यहाँ तक कि नाममाला में भी इसका कोई निर्देश नहीं है। इसके अतिरिक्त पम्प द्वारा निर्दिष्ट राघवपाण्डवीय के कर्ता श्रुतकीर्ति कोल्हापुर जैन बसदि के पुरोहित श्रुतकीर्ति से भिन्न थे, जबकि दोनों का उपनाम त्रैविद्य—आगम, तर्क और व्याकरण में निष्णात था। इस वैभिन्न्य का कारण यह है कि उनकी गुरु-परम्पराएं भिन्न हैं। पम्प द्वारा निर्दिष्ट राघवपाण्डवीय के कर्ता श्रुतकीर्ति त्रैविद्य की गुरु-परम्परा बालचन्द्र-मेघचन्द्र-श्रुतकीर्ति-वासुपूज्य-श्रुतकीर्ति थी, जबकि कोल्हापुर जैन बसदि के पुरोहित श्रुतकीर्ति त्रैविद्य की गुरु-परम्परा[१] कुलभूषण-कुलचन्द्र-माघनन्दि-श्रुतकीर्ति थी।

(२) पञ्चतन्त्र का कर्ता दुर्गसिंह चालुक्य राजा जगदेकमल्ल द्वितीय (११३९-११५० ई.) का समकालीन नहीं था। दुर्गसिंह अपने ग्रन्थ के पद्य ३०, ३२, ३६, ३८ तथा ५७ में उल्लेख करता है कि उसका संरक्षक चालुक्यराज था, जो जयसिंह और जगदेकमल्ल नाम से प्रसिद्ध था। कीर्तिविद्याहर, कोदण्ड-राम और चोळ् कालानल उसके बिरुद थे। तीन चालुक्य राजाओं में से केवल एक ही जगदेकमल्ल प्रथम नाम से प्रसिद्ध था तथा उसी का नाम जयसिंह भी था। बेलगामे अभिलेख[२] से प्रतीत होता है कि जगदेकमल्ल प्रथम या जयसिंह द्वितीय के ही उपर्युक्त तीन बिरुद थे। इससे स्पष्ट है कि दुर्गसिंह का संरक्षक जगदेकमल्ल द्वितीय नहीं, अपितु जगदेकमल्ल प्रथम या जयसिंह द्वितीय था, जिसने १०१५-१०४२ ई. में शासन किया।

(३)अभिनवपम्प ने अपनी रामायण की रचना शक सं. १०६७ में नहीं की। श्रवणबेल्गोला के एक अभिलेख[३] में पम्परामायण से एक पद्य जैन मुनि मेघचन्द्र की प्रशंसा में उद्धृत है। इस अभिलेख में, जो १११६ ई. से पूर्व उत्कीर्ण नहीं हुआ,

---

१. जैनशिलालेखसंग्रह, पृ. २६-२७

२. E.K. भाग ७, शिकारपुर १२६ और
द्रष्टव्य- न. २० ए, १२५ व १५३ (उसी तालुक के)

३. वही, भाग २, नं. १२७, जैनशिलालेखसंग्रह, पृ. ६४

मेघचन्द्र की मृत्यु-तिथि बृहस्पतिवार, २ दिसम्बर, १११५ ई. बताई गयी है ।[१] इससे प्रतीत होता है कि अभिनवपम्प की रामायण १११६ ई. या शक सं. १०३८ से पूर्व सुप्रसिद्ध थी और इस प्रकार सम्भावना यह होती है कि पम्प-रामायण ११०० ई. के लगभग रची गयी होगी । निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि पम्प द्वारा निर्दिष्ट श्रुतकीर्ति त्रैविद्य के समय के अभिलेखों का काल शक सं. १०४५ और १०५८ है । वह शिलाहार राजा गण्डरादित्य (११०५-११४० ई.) का समकालीन था । शक सं. १०६५ (११४३ ई.) में कोल्हापुर बसदि के पुरोहित का पदभार उसके अनुयायी माणिक्यनन्दी पंडित ने संभाला था ।[२] अत: श्रुतकीर्ति त्रैविद्य ११२० से ११४० ई. तक कोल्हापुर बसदि का पुरोहित रहा होगा । निष्कर्षत: यह पम्प द्वारा निर्दिष्ट श्रुतकीर्ति से भिन्न था ।

(४) पम्प-रामायण से नागवर्म के भाषाभूषण में एक पद्य उद्धृत है । उक्त नागवर्म तथा काव्यावलोकन कर्णाटक -कादम्बरी (बाण की कृति का कन्नड़ रूपान्तर) व छन्दोम्बुधि का कर्ता, रक्कसगङ्ग (१०००-१०३० ई.) का विषय और धारा के प्रख्यात राजा भोजराज (१०१९-१०६० ई.) से उपहार स्वीकार करने वाला नागवर्म एक ही माने जाते हैं । जनार्दन या जन्न के अनन्तनाथ पुराण (१२२८ई. में पूर्ण) से पता चलता है कि यह नागवर्म राजा जगदेक अर्थात् चालुक्य राजा जगदेकमल्ल प्रथम (१०१५-१०४२ई.) की राज्यसभा में कटकोपाध्याय था । अत: इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पम्प-रामायण और उसमें उद्धृत श्रुतकीर्ति का राघवपाण्डवीय १०४२ई. से पूर्व लिखे गये होंगे ।

(५) शक सं. १०४५ और १०६२ के मध्य अल्पकाल में एक ही शीर्षक से दिगम्बर सम्प्रदाय के दो जैन कवियों द्वारा दो संस्कृत के द्व्यर्थक काव्य नहीं लिखे जा सकते, यह तर्क भी युक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होता । और भी, धनञ्जय का राघवपाण्डवीय शक सं. १०४५ और १०६२ के मध्य नहीं, अपितु इससे बहुत पहले लिखा गया । पम्प द्वारा निर्दिष्ट राघवपाण्डवीय धनञ्जय विरचित द्विसन्धान-काव्य से भिन्न है । मैसूर के विख्यात पुरातत्त्ववेत्ता नरसिंहाचारियर[३] ने नागवर्म के काव्यावलोकन की भूमिका में इस ओर संकेत करते हुए कहा है कि पम्प-रामायण

---

१. E.K., भाग२, नं.१२७, जैन शिलालेखसंग्रह, पृ.६४

२. E.I., भाग १९, पृ.३१

३. नरसिंहाचारियर: काव्यावलोकन की भूमिका, पृ.४

में उद्धृत श्रुतकीर्ति की कृति का वर्णन गतप्रत्यागत काव्य के रूप में है। अभिप्राय यह है कि इस काव्य के पद्यों को बाएं से दाएं पढ़े जाने पर रामकथा निष्पन्न होती है तथा दाएं से बाएं पढ़े जाने पर पाण्डवकथा। इस प्रकार की गतप्रत्यागत शैली द्विसन्धान-काव्य पर घटित नहीं होती। डॉ. वी.वी. मिराशी[१] के मतानुसार गतप्रत्यागत की उपर्युक्त व्याख्या समुचित नहीं है। यह काव्यप्रकाश के दशम उल्लास में मम्मट[२] द्वारा निर्दिष्ट अनुलोम-प्रतिलोम के समान प्रतीत होती है। एतदनुसार पद्य चाहे बाएं से दाएं पढ़ा जाए या दाएं से बाएं, उसका स्वरूप एक-सा रहता है। धनञ्जय कृत द्विसन्धान-महाकाव्य में इस प्रकार का एक उद्धरण निम्नलिखित है—

ततसारतमास्थासु सुभावानभितारधीः।

धीरताभिनवाभासु सुस्थामा तरसातत॥[३]

इस पद्य का पूर्वार्ध बाएं से दाएं तथा पुनः दाएं से बाएं पढ़ा जाए, तो पूर्ण पद्य बन जाता है, इसी प्रकार उत्तरार्ध भी दाएं से बाएं तथा बाएं से दाएं पढ़ा जाए, तो पूर्ण पद्य बन जाता है। पद्य का अर्थ है (अभितारधीः) तीक्ष्ण बुद्धि से (शास्त्रों में) संपृक्त (और) (सुस्थामा) पराक्रमी (विष्णु) ने (धीरतामभिनवाभासु) धैर्य की अभिनव आभा से युक्त (ततसारतमास्थासु) विस्तृत सारतम (मूलतत्व) प्रतिज्ञाओं में (तरसा) शीघ्रतापूर्वक (सुभावान्) सुष्ठु परिणामों (पवित्र भावों) का (आतत) सञ्चार कर दिया।

द्विसन्धान -महाकाव्य में इस प्रकार के और उदाहरण भी हैं।[४] इस काव्य में कतिपय श्लोक-पाद[५] तथा श्लोकार्ध[६] भी इस शैली के हैं। किन्तु सम्पूर्ण काव्य गतप्रत्यागत शैली का नहीं है। अतएव स्पष्ट है कि पम्प द्वारा निर्दिष्ट श्रुतकीर्ति त्रैविद्य को धनञ्जय नहीं माना जा सकता।

---

१. वी.वी. मिराशीः लिटरेरी एण्ड हिस्टोरिकल स्टडीज़ इन इन्डोलाजी, पृ. २८-२९

२. अत्र यमकमनुलोमप्रतिलोमश्च चित्रभेदः पादद्वयगते परस्परापेक्षे।
काव्यप्रकाश, १०.५६६

३. द्विस., १८.१४३

४. वही, १८.१३८-३९

५. वही, १८.५८

६. वही, १८.३०

NAGPUR UNIVERSITY
DR. V. B. AJAS BRAJSAHEB KOLTE LIBRARY
33924

२. डॉ. भण्डारकर का मत (९९६-११४७ ई.)

डॉ. आर. जी. भण्डारकर १८९४ ई. में बम्बई से प्रकाशित अपनी 'रिपोर्ट आन दी सर्च फार मैनुस्क्रिप्ट्स इन दी बाम्बे प्रैसीडेंसी ड्युरिंग दी इयर्स १८८४-८५, १८८५-८६ तथा १८८६-८७' के पृ. १९-२० पर दिगम्बर जैन कवि धनञ्जय के काव्य की दो प्रतियों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि प्रथम भाग के अन्तिम पद्य में कर्त्ता को कवि कहा गया है। इसी पद्य में अकलङ्कदेव के प्रमाणशास्त्र, पूज्यपाद अर्थात् देवनन्दि के लक्षणशास्त्र (व्याकरण) और धनञ्जय कवि के काव्य (द्विसन्धान) को तीन अपश्चिम रत्न कहा गया है।[१] उन्होंने इसी कथन के आधार पर संस्कृतकोष (नाममाला) के रचयिता को द्विसन्धान का रचयिता स्वीकार किया। वे वर्धमान (११४७ ई.) कृत गणरत्नमहोदधि[२] विशेषत: एगलिंग संस्करण[३] में उद्धृत द्विसन्धान का भी उल्लेख करते हैं। उनके अनुसार जैनाचार्यों ने ब्राह्मण लोक-साहित्य का अनुकरण किया है, अतएव यह कल्पना निरर्थक नहीं होगी कि धनञ्जय ने राघवपाण्डवीय की कथा की प्रेरणा ब्राह्मण कवि कविराज से ली हो। कविराज का समय धाराधीश मुंज के पश्चात् होना चाहिए, क्योंकि उन्होंने अपने संरक्षक जयन्तीपुरी के कामदेव की तुलना मुंज (मृत्यु ९९६ ई.) से की है। अत: भण्डारकर कविराज और धनञ्जय को ९९६ और ११४७ ई. के मध्य मानते हैं। उनका कथन है कि यदि अनुकरण की कल्पना सत्य मानी जाए, तो कविराज अवस्था में धनञ्जय से बड़े होने चाहिएं।

डॉ. भण्डारकर के मत की समीक्षा

ए.एन. उपाध्ये के अनुसार भण्डारकर का यह कथन कि जैनाचार्यों ने अपने कथा-साहित्य में ब्राह्मण कथा-साहित्य का अनुकरण किया, एक सामान्य कथन के रूप में ही स्वीकार्य है। यदि अनुकरण की कल्पना सत्य मानी जाए तो इस वाक्यांश के आधार पर कहा जा सकता है कि भण्डारकर उपर्युक्त तथ्य के प्रति विशेष आग्रही नहीं है। यदि अनुकरण का उपर्युक्त तथ्य स्वीकार भी किया जाए, तो धनञ्जय के समक्ष दण्डी का द्विसन्धान रहा होगा, कविराज का नहीं। भण्डारकर का यह निष्कर्ष कि कविराज मुंज (९९६ ई.) के उत्तरवर्ती और धनञ्जय के पूर्ववर्ती रहे

---

१. धनञ्जयनाममाला, २०१
२. गणरत्नमहोदधि, ४६, १०.५७, १८.२२
३. वही (एगलिंग संस्करण), पृ. ९७, ४०९, ४३५

होंगे, युक्तियुक्त प्रतीत होता है। किन्तु, कुछ नये तथ्यों के आधार पर उपाध्ये धनञ्जय को पूर्ववर्ती तथा कविराज को बारहवीं शती के उत्तरार्ध में हुआ स्वीकार करते हैं।[१]

(३) ए. वेंकटसुब्बइया का मत (९६०-१००० ई.)

वेंकटसुब्बइया ने 'जर्नल ऑफ बाम्बे ब्रांच रायल एशियाटिक सोसाइटी, भाग ३(न्यू सीरीज)' में 'दी आथर्स ऑफ दी राघवपाण्डवीय एण्ड गद्यचिन्तामणि' शीर्षक से धनञ्जय के काल-निर्धारण पर एक विस्तृत लेख लिखा है। उनके अनुसार धनञ्जय ९६०-१००० ई. के मध्य हुए। अपने मत के समर्थन में उन्होंने निम्नलिखित तथ्य दिये हैं—

(१) चालुक्य राजा जयसिंह द्वितीय या जगदेकमल्ल प्रथम (१०१५-१०४२ ई.) के समकालीन पञ्चतन्त्र के कर्ता दुर्गसिंह की भाँति वादिराज अपने पार्श्वनाथचरित में धनञ्जय के राघवपाण्डवीय का उल्लेख करता है।[२] वादिराज ने अपनी इस कृति को कार्तिक सुदी तृतीया, शक सं. ९४७, क्रोधन (बुधवार, २७ अक्टूबर, १०२५ ई.) को पूर्ण किया था। अतः धनञ्जय कृत राघवपाण्डवीय इस तिथि से पूर्व ही लिखा गया होगा।

(२) पार्श्वनाथचरित के अन्त में विद्यमान प्रशस्ति के अनुसार वादिराज चालुक्य राजा जयसिंह -जगदेकमल्ल की राज्यसभा का सदस्य था और नन्दीसंघ के श्रीपालदेव के शिष्य मतिसागर का शिष्य था। श्रवणबेल्गोला ५४(६७), बेलूर ११७, नगर ३५-४० इत्यादि अभिलेखों में यह वादिराज तथा द्रविड़संघ के नन्दीगण के अरुंगुळान्वय के मुनि वादिराज अथवा जगदेकमल्ल-वादिराज को एक ही स्वीकार किया गया। इस वादिराज का तथा इसी श्रेणी के अन्य मुनियों का संक्षिप्त परिचय Dr. Hultzsch ने Zeitschrift der deutschens Morganlandischen Gasellschaft में प्रकाशित किया है।

(३) पार्श्वनाथचरित के प्रथम सर्ग के प्रास्ताविक पद्यों में वादिराज ने क्रमशः गृध्रपिच्छ, स्वामी (उमास्वाति), देव (पूज्यपाद), रत्नकरण्डककार (समन्तभद्र),

१. द्विसन्धान-महाकाव्य का प्रधान सम्पादकीय, पृ. २७

२. "अनेकभेदसन्धानाः खनन्तो हृदये मुहुः।
बाणाधनञ्जयोन्मुक्ताः कर्णस्येव प्रिया कथम्॥" पार्श्वनाथचरित, १.२६

339244

NAGPUR UNIVERSITY
DR. V. B. ALIAS BHAUSAHEB KOLTE LIBRARY

अकलंक, सन्मति (सुमति भट्टारक), महापुराण का कर्ता जिनसेन, जीवसिद्धिकार अनन्तकीर्ति, पल्यकीर्ति, द्विसन्धानकाव्यकार धनञ्जय, अनन्तवीर्य (प्रमेयरत्नमालाकार), श्लोकवार्तिकालंकार के कर्ता विद्यानन्द, विशेषवाद के नायक आचार्य और चन्द्रप्रभचरित के कर्ता वीरनन्दिन् की प्रशस्ति की है।[१] वीरनन्दिन् के अतिरिक्त उक्त सभी आचार्य अरुंगुळान्वय से सम्बद्ध रहे हैं तथा पुरोहित पद में वादिराज के पूर्ववर्ती रहे हैं। इस प्रकार राघवपाण्डवीय का कर्ता धनञ्जय वादिराज से पूर्ववर्ती सिद्ध होता है। पुरोहित पद को अलंकृत करने वाले परवर्ती आचार्यों में धनञ्जय के नामोल्लेख की सूचना अभिलेखों में प्राप्य नहीं है। (श्रवणबेल्गोला के अभिलेख ५४(६७) के पद्य ३६ में मतिसागर के पश्चात् महामुनि हेमसेन का उल्लेख है, जो ९८५ ई. में पुरोहित था तथा विद्याधनञ्जय के नाम से प्रसिद्ध था। निष्कर्ष यह है कि यह हेमसेन (धनञ्जय) ही राघवपाण्डवीय या द्विसन्धान-काव्य का रचयिता था और सम्भवत: यह ग्रन्थ ९६०-१००० ई. के मध्य रचा गया।

नरसिंहाचारियर[२] धनञ्जय को ९०० ई. से पूर्व स्वीकार करते हैं। ई.वी. वीरराघवाचार्य[३] के अनुसार नाममाला तथा द्विसन्धान-काव्य के कर्ता धनञ्जय ७५० से ८०० ई. के मध्य रहे होंगे। इन्होंने धनञ्जय को कविराज (६५० से ७२५ ई.) का परवर्ती स्वीकार किया है।

(४) डॉ. ए.एन. उपाध्ये का मत (लगभग ८०० ई.)

ए.एन. उपाध्ये द्विसन्धान-महाकाव्य के कर्ता धनञ्जय का काल अकलंक (सातवीं-आठवीं शती) तथा धवलाकार वीरसेन (८१६ ई.) के मध्य लगभग ८०० ई. मानते हैं।[४] उनके मत में धनञ्जय किसी भी परिस्थिति में भोज (११वीं शती), जिसने धनञ्जय का विशेष रूप से उल्लेख किया है, के पश्चात् नहीं है। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने निम्नलिखित तथ्य प्रस्तुत किये हैं—

---

१. पार्श्वनाथचरित, १.१६-३०

२. JBBRAS (न्यू सिरीज़), भाग ३, पृ.१३८, तथा कर्णाटक कविचरित, भाग १, बंगलौर, १९६१, पृ.११०

३. ई.वी. वीरराघवाचार्य : दी डेट आफ निघण्टुक धनञ्जय, जर्नल आफ दी आन्ध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी, भाग २, नं.२, राजमुंद्री, १९२७, पृ.१८१-८४

४. विश्वेश्वरानन्द इण्डोलाजिकल जर्नल, भाग ८, अंक १-२, मार्च-सितम्बर, १९७०, पृ.१२५-३४

(१) धनञ्जय और उसकी कृति को पर्याप्त प्रसिद्धि मिली, फलस्वरूप उसे द्विसन्धानकवि नाम से जाना जाने लगा।[१] द्विसन्धान शब्द धनञ्जय के समय का नहीं, दण्डी (७वीं शती) के समय का है, अतः धनञ्जय दण्डी का परवर्ती है।

(२) धनञ्जय-नाममाला की कुछ हस्तलिखित प्रतियों में उलपब्ध अन्तिम कुछ पद्यों में धनञ्जय की काव्यप्रतिभा अकलंक की न्यायशास्त्रीय प्रतिभा तथा पूज्यपाद की वैयाकरणप्रतिभा के समकक्ष स्वीकार की गयी है।[२] उक्त पद्यों में चर्चित अकलंक और पूज्यपाद निश्चितरूपेण धनञ्जय के पूर्ववर्ती हैं।

कुछ अन्य हस्तलिखित प्रतियों में उक्त पद्य संशोधित रूप में है। उनमें दण्डी का उल्लेख हुआ है।[३] जल्हण इन पद्यों को कालिदास कृत मानते हैं। दण्डी का उल्लेख होने के कारण ये पद्य कालिदास कृत नहीं माने जा सकते। इस प्रकार धनञ्जय दण्डी के परवर्ती सिद्ध होते हैं।

(३) वर्धमान (११४१ ई.) ने गणरत्नमहोदधि में धनञ्जय कृत द्विसन्धान-महाकाव्य के कुछ पद्यों को उद्धृत किया है।[४]

(४) भोज (११वीं शती का मध्य) ने उभयालंकार का विवेचन करते हुए दण्डी तथा धनञ्जय के द्विसन्धान-महाकाव्य का उल्लेख किया है।[५]

(५) प्रभाचन्द्र (१०-११वीं शती) प्रमेयकमलमार्तण्ड में द्विसन्धान-महाकाव्य का उल्लेख करता है।[६]

(६) वादिराज पार्श्वनाथचरित में धनञ्जय की एकाधिक सन्धान-काव्य में प्रवीणता का उल्लेख करता है।[७]

---

१. धनञ्जयनाममाला, २०१
२. वही
३. "जाते जगति वाल्मीकौ शब्दः कविरिति स्मृतः।
कवी इति ततो व्यासे कवयश्चेति दण्डिनि॥" निघण्टु, २.४९
४. गणरत्नमहोदधि, ४.६, १०.५, १८.२२
५. शृंगारप्रकाश, मद्रास, १९६३, पृ. ४०६
६. प्रमेयकमलमार्तण्ड, निर्णय सागर प्रैस, बम्बई, १९४१, पृ. ४०२
७. पार्श्वनाथचरित, बम्बई, १९२६, १.२६

(७) कन्नड़ पंचतंत्र का कर्ता दुर्गसिंह (१०२५ ई.) धनञ्जय के राघवपाण्डवीय का उल्लेख करता है।[१] डॉ. कुलकर्णी (धारवाड़) के अनुसार आरा स्थित प्रति मे पूर्ववर्ती कवियों का निर्देश करने वाले पद्य नहीं है।

(८) छन्दों की एक कन्नड़ कृति छन्दोम्बुधि में धनञ्जय का पूर्ववर्ती कवियों के साथ उल्लेख है।[२] नरसिंहाचारियर के अनुसार उक्त धनञ्जय द्विसन्धान-महाकाव्य का कर्ता है, किन्तु ए. वेंकटसुब्बइया के मत में यह दशरूपककार धनञ्जय है।

(९) जल्हण (१२५७ई.)अपनी सूक्तिमुक्तावली में धनञ्जय से सम्बद्ध एक पद्य को राजशेखर (९००ई.) का बताता है।[३] उक्त पद्य में कर्ता के नाम को **धन** और **जय** में उसी प्रकार विभक्त किया गया है, जिस प्रकार **धनञ्जय** ने द्विसन्धान-महाकाव्य में किया है।

(१०) वीरसेन ने धवला मे **इति** शब्द की व्याख्या करने के लिए एक पद्य का उल्लेख किया है,[४] वह धनञ्जयनाममाला के पद्य ३९ से मिलता-जुलता है।

उपर्युक्त सभी तथ्यों के आधार पर धनञ्जय का काल अकलंक (७-८ वीं शती) तथा वीरसेन (जिसने धवला ८१६ ई. में सम्पन्न की) के मध्य लगभग ८०० ई. सिद्ध होता है।

डॉ. वी.वी. मिराशी द्वारा पूर्व मतों की समीक्षा

(१) अभिनवपम्प कृत रामचरितपुराण में निर्दिष्ट श्रुतकीर्ति त्रैविद्य और धनञ्जय में ऐक्य स्थापित कर पाठक का धनञ्जय को ११२५ ई. में स्वीकार करना वी.वी. मिराशी के मत में युक्तियुक्त नहीं है। मिराशी का मत है कि पम्प द्वारा निर्दिष्ट श्रुतकीर्ति त्रैविद्य तथा कोल्हापुर जैन बसदि के पुरोहित श्रुतकीर्ति त्रैविद्य में ऐक्य स्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि दोनों की गुरु परम्पराएं भिन्न थीं। पम्प द्वारा निर्दिष्ट श्रुतकीर्ति त्रैविद्य ११०० ई. में प्रसिद्ध हुआ। दूसरी ओर कोल्हापुर के श्रुतकीर्ति त्रैविद्य के समसामयिक अभिलेख शक सं. १०४५ (११२३ ई.) और

---

१. कन्नड़ पञ्चतन्त्र, मैसूर, १८९८, ८,

२. छन्दोम्बुधि, कर्णाटक कविचरित में उद्धृत, पृ.५३

३. सूक्तिमुक्तावली, गायकवाड आरिएन्टल सिरीज़, बड़ौदा, १९३८, पृ.४६

४. षट्खण्डागम, धवला टीका सहित, भाग १, अमरावती, १९३८, प्रस्तावना, पृ.३८

१०५८ (११३६ ई.) के हैं। इस प्रकार दोनों को एक व्यक्ति सिद्ध नहीं किया जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि श्रवणबेल्गोला के अभिलेख में बसदि के त्रैविद्य रचित काव्य से सम्बन्धित पद्यों को अभिनवपम्प की रचना से भ्रमपूर्वक उद्धृत किया गया है।

(२) वादिराज, देव (पूज्यपाद), अकलंक, जिनसेन इत्यादि ने धनञ्जय प्रभृति पूर्वाचार्यों की प्रशंसा की है। इस तथ्य के आधार पर धनञ्जय को जैन मुनि स्वीकार करना समुचित नहीं है। राघवपाण्डवीय में उसके मुनित्व का कोई संकेत उपलब्ध नहीं होता। सामान्यत: वह अपने गुरु दशरथ का ही उल्लेख करता है, किन्तु उसे वह मुनि नहीं कहता। इससे "वह एक श्रावकमात्र था, मुनि नहीं "इस मत की पुष्टि होती है। राजशेखर (१०वीं शती का पूर्वार्ध) द्वारा उल्लेख किया गया है। इसलिए उसे ए. वेंकटसुब्बइया द्वारा मान्य ९८५ ई. जितना परवर्ती नहीं माना जा सकता।

(३) ए. एन. उपाध्ये के निष्कर्षों से सहमत होने पर भी मिराशी पम्प द्वारा निर्दिष्ट श्रुतकीर्ति त्रैविद्य तथा कोल्हापुर स्थित रूपनारायण जैन बसदि के पुरोहित श्रुतकीर्ति त्रैविद्य में ऐक्य नहीं मानते। इस सन्दर्भ में उन्होंने निम्नलिखित तर्क दिये हैं—

(क) दोनों त्रैविद्य समकालीन नहीं है। पम्प द्वारा निर्दिष्ट श्रुतकीर्ति त्रैविद्य ११०० ई. में हुआ होगा, क्योंकि पम्प रामायण का एक पद्य श्रवणबेल्गोला के अभिलेख १२७ (१११५ ई.) में उद्धृत हुआ है। जबकि, रूपनारायण बसदि का श्रुतकीर्ति त्रैविद्य ११२०-११४० ई. के मध्य रहा होगा, क्योंकि कोल्हापुर अभिलेख (शक सं. १०८५-११३६ ई.) और तेर्दाळ् अभिलेख (शक सं. १०४५-११२३ई.) में उसको उक्त बसदि का तत्कालीन पुरोहित माना गया है।

(ख) दोनों श्रुतकीर्ति त्रैविद्यों की गुरु परम्पराएं भी भिन्न हैं। पम्प द्वारा निर्दिष्ट श्रुतकीर्ति की गुरु-परम्परा बालचन्द्र-मेघचन्द्र-शुभकीर्ति (वासुपूज्य)-श्रुतकीर्ति थी, जबकि रूपनारायण बसदि के श्रुतकीर्ति की गुरु-परम्परा कुलभूषण-कुलचन्द्र-माघनन्दी-श्रुतकीर्ति थी। इसलिए दोनों को एक श्रुतकीर्ति स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(ग) कोल्हापुर का श्रुतकीर्ति त्रैविद्य अपने समय में सुप्रसिद्ध था, परन्तु तत्कालीन अभिलेखों में राघवपाण्डवीय का निर्देश नहीं है। यदि उसने राघवपाण्डवीय नामक काव्य की रचना की होती, तो निश्चित रूप से उसका उल्लेख

उसकी प्रशस्तियों में होता। किन्तु, न तो तत्कालीन अभिलेखों में, न ही कोल्हापुर और निकटस्थ प्रदेशों के परवर्ती अभिलेखों में इस प्रकार के किसी काव्य के प्रति उसके कर्तृत्व का संदर्भ प्राप्त होता है। इस प्रकार भी दोनों श्रुतकीर्ति भिन्न ही सिद्ध होते हैं।

(५) डॉ. वी.वी. मिराशी का मत (लगभग ८०० ई.)

वी. वी. मिराशी पम्प द्वारा निर्दिष्ट श्रुतकीर्ति त्रैविद्य तथा कोल्हापुर जैन बसदि के मुनि श्रुतकीर्ति त्रैविद्य को भिन्न मानकर धनञ्जय का काल लगभग ८०० ई. स्वीकार करते हैं। अपनी मान्यता के समर्थन में उन्होंने निम्नलिखित तथ्य दिये हैं—

(१) कन्नड़ कवि दुर्गसिंह (१०२५ ई.) ने अपने पंचतंत्र में कहा है कि धनञ्जय राघवपाण्डवीय से सरस्वती के स्वामी बन गये।[१] दुर्गसिंह परवर्ती चालुक्य राजा जयसिंह द्वितीय (जगदेकमल्ल प्रथम) १०१५-१०४२ ई. के समकालीन थे। अतः धनञ्जय १००० ई. पूर्व निश्चितरूपेण प्रख्यात रहे होंगे।

(२) वादिराज के पार्श्वनाथचरित में धनञ्जय से सम्बद्ध निम्नलिखित पद्य प्रयुक्त है—

अनेकभेदसन्धानाः खनन्तो हृदये मुहुः।
बाणा धनञ्जयोन्मुक्ताः कर्णस्येव प्रियाः कथम्॥[२]

वादिराज ने पार्श्वनाथचरित शक सं. ९४७, कार्तिक सुदी ३ (२७ अक्टूबर, १०२६ ई.) को संकलित किया था। अतः धनञ्जय वादिराज से अर्थात् १००० ई. से पूर्व प्रख्यात रहा होगा।

(३) धारानरेश भोज ने अपने शृङ्गारप्रकाश में कुछ स्थानों पर धनञ्जय के द्विसन्धान-काव्य का उल्लेख किया है। एक उद्धरण इस प्रकार है—

तृतीयस्य (द्विसन्धानप्रकारस्य) उदाहरणं यथा दण्डिनो धनञ्जयस्य वा द्विसन्धान-प्रबन्धौ रामायणभारतावनुबध्नीतः।[३]

---

१. कन्नड़ पञ्चतंत्र, मैसूर, १८९८, ८
२. पार्श्वनाथचरित, १.२६
३. शृङ्गारप्रकाश, मद्रास, १९६३, पृ. ४०६

भोज १०१५-१०५५ ई. के मध्य प्रख्यात रहा। अतः धनञ्जय निश्चित रूप से १००० ई. से पूर्व विद्यमान था।

भोज के समकालीन प्रभाचन्द्र ने अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड में एक द्विसन्धान-काव्य का उल्लेख किया है, किन्तु यह स्पष्ट नहीं, यह द्विसन्धान-काव्य दण्डी का था अथवा धनञ्जय का।

(४) राजशेखर ने अपने प्रकीर्ण पद्यों में से एक में धनञ्जय का वर्णन किया है—

द्विसन्धाने निपुणतां स तां चक्रे धनञ्जयः।
यया जातं फलं तस्य सतां चक्रे धनं जयः॥[१]

राजशेखर प्रतिहारराज महेन्द्रपाल और महीपाल का तथा कलचुरि राजा युवराजदेव का सभाकवि था। अतएव वह ९०० से ९४० ई. तक प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार धनञ्जय ९वीं शती के अन्त में प्रख्यात हुआ होगा।

(५) धनञ्जय कृत अनेकार्थनाममाला में **इति** अव्यय के विभिन्न अर्थ प्रकट करने वाला निम्न पद्य पाया जाता है—

हेतावेवं प्रकाराद्यैः व्यवच्छेदे विपर्ययेः।
प्रादुर्भावे समाप्ते च इति शब्दं विदुर्बुधाः॥[२]

यह सुविख्यात जैनाचार्य जिनसेन के गुरु वीरसेन की धवला टीका में उद्धृत है। धवला की रचना विक्रम सं. ८७३ (८१६ ई.) में हुई। अतः धनञ्जय ८०० ई. के लगभग प्रसिद्ध हुआ होगा।

(६) धनञ्जय कृत नाममाला पर्यायवाची संस्कृत शब्दों को प्रस्तुत करती है। यह पूर्ववर्ती शब्दकोषों से एक है। इसमें कई हिन्दू देवी-देवताओं के नाम संकलित हैं, यथा शिव[३], विष्णु[४], ब्रह्मा[५] और कार्तिकेय[६], परन्तु यह गजानन का कोई उल्लेख

---

१. सूक्तिमुक्तावली पृ. ४६
२. अनेकार्थनाममाला, ४०
३. धनञ्जयनाममाला, ६८-७०
४. वही, ७४-७६
५. वही, ७२-७३
६. वही, ६६-६७

नहीं करती। ऐसा प्रतीत होता है कि यह कृति उस समय से सम्बद्ध है, जब हिन्दू समाज में गजानन देवता के रूप में प्रतिष्ठित नहीं हो पाया था। यह देखने में आता है कि इस देवता को छठी शती ई. के अन्त में मान्यता मिलनी प्रारम्भ हुई। सातवीं शती ई. में भी कुछ रचनाओं में उसका देवता रूप में उल्लेख नहीं है। अत: धनञ्जय का अनुमानित समय ७५०-८०० ई. के लगभग माना जा सकता है।

(७) धनञ्जय अपनी नाममाला में अकलंक के प्रमाणों से सम्बद्ध कार्य का तथा पूज्यपाद कृत व्याकरण का अपने द्विसन्धानकाव्य की भाँति श्रेष्ठ कार्य के रूप में उल्लेख करता है।[१] अकलंक ७२०-७५० ई. के मध्य तथा जैनेन्द्र व्याकरण के कर्ता पूज्यपाद देवनन्दि छठी शती ई. के अन्त में माने जाते हैं। अत: धनञ्जय इनके पश्चात् ७५०-८०० ई. के लगभग ही हुए होंगे।

उपर्युक्त सभी मत-मतान्तरों को दृष्टि में रखते हुए द्विसन्धान-महाकाव्य के लेखक धनञ्जय को ८०० ई. के लगभग मानना ही सर्वोचित प्रतीत होता है। इस प्रकार पम्प द्वारा निर्दिष्ट श्रुतकीर्ति त्रैविद्य (१०५०) तथा कोल्हापुर जैन बसदि के जैन मुनि श्रुतकीर्ति त्रैविद्य (बारहवीं शती ई. का पूर्वार्ध) से धनञ्जय का ऐक्य स्थापित करना भी निराकृत हो जाता है।

धनञ्जय का व्यक्तित्व

धनञ्जय ने अपने विषय में कोई विशेष परिचयात्मक विवरण नहीं दिया है। द्विसन्धान-महाकाव्य के अन्तिम सर्ग के अन्तिम पद्य की नेमिचन्द्र कृत पदकौमुदी टीका के आधार पर यह कहा जा सकता है कि धनञ्जय के पिता का नाम वासुदेव तथा माता का नाम श्रीदेवी था। इसी स्थल पर उसके गुरु दशरथ का उल्लेख भी हुआ है।[२]

धनञ्जय अपने द्विसन्धान-महाकाव्य की द्व्यर्थक सन्धान-विधा के अत्यधिक प्रसिद्ध हो जाने के कारण सन्धान-कवि के नाम से जाना जाने लगा था। धनञ्जय ने अपनी कवित्व प्रतिभा को अकलंक की न्यायशास्त्रीय प्रतिभा तथा पूज्यपाद की वैयाकरण प्रतिभा के समकक्ष रखते हुए, तीनों प्रतिभाओं को वास्तविक

---

१. धनञ्जयनाममाला, २०१

२. द्विस., १८.१४६ तथा उस पर नेमिचन्द्र कृत पदकौमुदी टीका

रत्नत्रय की संज्ञा से अभिहित किया है।[१] काव्य प्रतिभा सम्पन्न होने पर भी वह अपने गुणों के प्रति सजग है और स्वयं को वाल्मीकि और व्यास का सम्मिलित रूप मानता है।[२] धनञ्जय ने द्व्यर्थक सन्धान विधा में इतनी निपुणता प्राप्त की कि सज्जनों के समूह में उस 'धन' तथा 'जय' रूप फल का लाभ हुआ।[३] वादिराज भी अपने पार्श्वनाथचरित में उसकी एकाधिक सन्धान शैली में प्रवीणता का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि अनेक प्रकार के अर्थ वाले और हृदय में बारम्बार चुभने वाले धनञ्जय के शब्द कर्णप्रिय कैसे होंगे ?[४]

धनञ्जय जैन धर्म के प्रति आस्थावान था, इसीलिए उसने द्विसन्धान-महाकाव्य के प्रारम्भ में मङ्गल-श्लोक में तीर्थंकर नेमिनाथ की अभ्यर्थना की है।[५] डॉ. के.बी. पाठक पम्प-रामायण में निर्दिष्ट श्रुतकीर्ति त्रैविद्य और धनञ्जय में ऐक्य स्थापित कर उसे जैन मुनि सिद्ध करते हैं।[६] ए. वेंकटसुब्बइया धनञ्जय और कोल्हापुर जैन बसदि के कार्यकारी पुरोहित में ऐक्य स्थापित कर उसे कोल्हापुर जैन बसदि का कार्यकारी पुरोहित बताते हैं।[७] नाथूराम प्रेमी, वी.वी. मिराशी प्रभृति विद्वान् धनञ्जय को पम्प द्वारा निर्दिष्ट श्रुतकीर्ति त्रैविद्य तथा कोल्हापुर जैन बसदि के कार्यकारी पुरोहित से पृथक् मानकर उसके गृहस्थ होने की सम्भावना प्रकट करते हैं। द्विसन्धान-महाकाव्य में धनञ्जय के गुरु का उल्लेख तो प्राप्त होता है, किन्तु उसे कहीं भी मुनि नहीं कहा गया, अत: उसे श्रावक मानना ही श्रेयस्कर प्रतीत होता है। गुरु के श्रावक होने पर शिष्य का श्रावक होना युक्तियुक्त भी प्रतीत होता है।

धनञ्जय की कृतियाँ

धनञ्जय को निम्नलिखित पाँच कृतियों का कर्ता माना जाता है—

---

१. प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
द्विसन्धानकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥" धनञ्जयनाममाला, २०१

२. निघण्टु, २.४९

३. सूक्तिमुक्तावली, पृ. ४६

४. पार्श्वनाथचरित १.२६

५. द्विस. १.१

६. JBBRAS भाग २१, १९०४, पृ. १-३

७. वही, भाग ३ (न्यू सिरीज़), १९३७, पृ. १३६-३८

(१) विषापहार-स्तोत्र, (२) नाममाला, (३) अनेकार्थनाममाला, (४) यशोधर-चरित तथा (५) द्विसन्धान-महाकाव्य।

(१) विषापहार-स्तोत्र[१]

यह ३९ इन्द्रवज्रा वृत्तों में लिखा गया स्तुतिपरक काव्य है।[२] ए.एन. उपाध्ये इस काव्य को ४० पद्यों की **ऋषभ-जिन-स्तुति** कहते हैं। उनके अनुसार इसके प्रथम ३९ पद्य उपजाति वृत्त में तथा अन्तिम पद्य पुष्पिताग्रा वृत्त में रचा गया है।[३] ऐसा प्रतीत होता है कि इसके चौदहवें पद्य के आदि में प्रयुक्त **विषापहारं मणिमोषधानि** इत्यादि पद से इसका नामकरण हुआ। इसी पद्य से स्तोत्र के लिये एक अनुश्रुति भी प्रचारित हो गयी कि इसके पाठ से सर्प का विष दूर हो जाता है। यह विशद भाषा में निबद्ध काव्य है। यह स्तोत्र अपनी प्रौढ़ता, गम्भीरता और अनूठी उक्तियों के लिए प्रसिद्ध है। अन्तिम पद्य में श्लेष के माध्यम से धनञ्जय का नामोल्लेख किया गया है।[४] नाथूराम प्रेमी के अनुसार इसके कुछ परम्परावादी विचार जिनसेन ने अपने आदिपुराण में तथा सोमदेव ने यशस्तिलक में अपनाये हैं।[५] इसकी एक संस्कृत टीका जैन मठ, मूडबिद्री (द. कनारा) में उपलब्ध है।[६] नेमिचन्द्र शास्त्री ने पार्श्वनाथ पुत्र नागचन्द्र कृत संस्कृत टीका का उल्लेख किया है।[७]

(२) नाममाला

इसे कुछ हस्तलिखित पाण्डुलिपियों में **धनञ्जय-निघण्टु** के नाम से अभिहित किया गया है। यह २०० पद्यों का अमरकोश जैसा अत्यन्त महत्वपूर्ण

---

१. काव्यमाला सिरीज़, नं.७, बम्बई, १९२६ में प्रकाशित

२. द्रष्टव्य-नेमिचन्द्र शास्त्री: संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, पृ.३६५ तथा नाथूराम प्रेमी: जैन साहित्य और इतिहास, बम्बई, १९५६, पृ.११०

३. द्विस. का प्रधान सम्पादकीय, पृ.२१

४. वितरति विहिता यथाकथञ्चिज्जिनविनताय मनीषितानि भक्तिः।
त्वयि नुतिविषया पुनर्विशेषाद् दिशति सुखानि यशो धनं जयं च॥
विषापहार-स्तोत्र.४०

५. नाथूराम प्रेमी: जैन साहित्य और इतिहास, बम्बई, १९५६, पृ.,१०९

६. कन्नड़ ताड़पत्रीय ग्रन्थसूची, पृ.१९२-९३

७. नेमिचन्द्र शास्त्री: संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, पृ.३६५

शब्दकोष है।[१] संस्कृत विद्यार्थियों को कण्ठस्थ करने के लिये यह बहुत ही उपयोगी है। इसमें १७०० शब्दों के अर्थ दिये गये हैं। बड़े ही कौशल से संस्कृत भाषा के पर्यायवाची शब्दों का चयन करके इस कोश का संग्रहण किया गया है। शब्द से शब्दान्तर बनाने की प्रक्रिया भी अद्वितीय है। उदाहरणतया **पृथ्वी** शब्द के आगे **धर** या **धर** के पर्यायवाची शब्द जोड़ देने से पर्वत के नाम **पति** या पति के समानार्थक **स्वामिन्** आदि शब्द जोड़ देने से राजा के नाम एवं **रुह** शब्द जोड़ देने से वृक्ष के नाम हो जाते हैं।[२]

इस पर अमरकीर्ति कृत **नाममालाभाष्य** उपलब्ध है।

(३) अनेकार्थनाममाला

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी से सन् १९५० ई. में प्रकाशित नाममाला के साथ ४६ श्लोक प्रमाण की **अनेकार्थनाममाला** भी सम्मिलित है। इसे भी धनञ्जय की कृति माना गया है। इसमें एकाधिक अर्थ बताने वाले शब्दों को संकलित किया गया है।

(४) यशोधरचरित

भट्टारक ज्ञानकीर्ति (विक्रम सं. १६५०) ने अपने यशोधरचरित में अपने से पूर्ववर्ती सात यशोधरचरितों के रचयिताओं का नामोल्लेख किया है, उन सात में एक नाम धनञ्जय का भी है।[३] यदि भट्टारक ज्ञानकीर्ति ने उक्त सभी ग्रन्थों को देखकर ही यह उल्लेख किया है, तो समझना चाहिए कि विक्रम सं. १६५० तक धनञ्जय कृत **यशोधरचरित** उपलब्ध था।

---

१. कवेर्धनञ्जयस्येयं सत्क्वीनां शिरोमणेः।
प्रमाणं नाममालेति श्लोकानां च शतद्वयम् ॥ धनञ्जयनाममाला, २०२

२. तत्पर्यायधरः शैलस्तत्पर्यायपतिर्नृपः।
तत्पर्यायरुहो वृक्षः शब्दमन्यं च योजयेत् ॥ धनञ्जयनाममाला, ७ एवं इस पर अमरकीर्ति विरचित भाष्य

३. द्रष्टव्य -डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल : राजस्थान के जैन सन्त-व्यक्तित्व एवं कृतित्व, जयपुर, १९६१, पृ. २११ तथा नाथूराम प्रेमी: जैन साहित्य और इतिहास, बम्बई, १९५६, पृ. ११० व ४२१

(५) द्विसन्धान-महाकाव्य

द्विसन्धान-महाकाव्य का अपर नाम **राघवपाण्डवीय** भी है। यदि द्विसन्धान नाम रचना पद्धति को व्यक्त करता है, तो दूसरा नाम राघवपाण्डवीय काव्य की विषयवस्तु का आभास देता है। इस महाकाव्य में १८ सर्ग तथा कुल ११०५ पद्य हैं। इसमें कवि द्वारा राम और कृष्ण चरितों का निर्वाह सफलतापूर्वक हुआ है। जैसी कि दिगम्बर जैन लेखकों की सामान्य प्रवृत्ति रही है, तदनुरूप इसमें राजा श्रेणिक के लिए गौतम द्वारा कथा कही गयी है।[१] धनञ्जय ने सन्धान-काव्य में भी काव्योचित गुणों को आवश्यक माना है और कुशलतापूर्वक इस काव्य में उनका प्रयोग भी किया है। इसमें व्याकरण, राजनीतिशास्त्र, सामुद्रिकशास्त्र, लिपिशास्त्र, गणितशास्त्र एवं ज्योतिष आदि विषयों की चर्चाएं भी उपलब्ध हैं। अतएव यह शास्त्र और काव्य दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण है।

द्विसन्धान-महाकाव्य की टीकाएं

द्विसन्धान-महाकाव्य बहुत लोकप्रसिद्ध था, इसीलिए इसकी पाण्डुलिपियाँ भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। इन्हीं पाण्डुलिपियों से इसकी कुछ टीकाओं का भी पता चलता है, जो निम्नलिखित हैं–

(१) **पदकौमुदी**[२]– यह टीका नेमिचन्द्र द्वारा लिखी गयी है। नेमिचन्द्र देवनन्दि के शिष्य तथा विनयचन्द्र के प्रशिष्य थे।[३] गुलाबचन्द्र चौधरी ने अपने "जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६" में नेमिचन्द्र को विनयचन्द्र का शिष्य और पद्मनन्दि का प्रशिष्य बताया है।[४]

(२) **बद्रीनाथ कृत टीका**–धनञ्जय कृत द्विसन्धान-महाकाव्य सन् १८९५ई. में निर्णयसागर प्रैस, बम्बई से काव्यमाला सिरीज़-४९ में बद्रीनाथ की टीका के साथ प्रकाशित हुआ था। बद्रीनाथ की टीका नेमिचन्द्र की पदकौमुदी टीका का संक्षिप्तीकरण है। अध्ययन करने पर पता चलता है कि बद्रीनाथ ने अपना ध्यान मूल की व्याख्या करने पर अधिक केन्द्रित रखा है।

---

१. द्रष्टव्य-द्विस.,१९

२. द्विसन्धान-महाकाव्य, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९७० में प्रकाशित

३. द्रष्टव्य-नेमिचन्द्र शास्त्री: संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, पृ.३६६

४. गुलाबचन्द्र चौधरी : जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६ पृ.५२८

(३) पुष्यसेन शिष्य कृत टीका–पुष्यसेन शिष्य कृत द्विसन्धान-महाकाव्य की टीका का हीरालाल जैन तथा ए. एन. उपाध्ये ने भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली से १९७० ई. में प्रकाशित द्विसन्धान-महाकाव्य के प्रधान सम्पादकीय में पृ. २० पर उल्लेख किया है।

(४) राघवपाण्डवीय प्रकाशिका–यह टीका परवादिघरट्ट के नाम से ख्यात रामभट्ट के पुत्र कवि देवर द्वारा लिखी गयी है।[१] हीरालाल जैन तथा ए.एन. उपाध्ये इस टीका का नाम **राघवपाण्डवीय परीक्षा** तथा कवि देवर के पिता का नाम रामघट बताते हैं।[२] यह टीका कवि देवर ने अपने आश्रयदाता अरलु श्रेष्ठिन् के लिए लिखी थी। अरलु श्रेष्ठिन् जैन धर्म के प्रति आस्थावान् कर्णाटक के कीर्ति नामक एक बड़े व्यापारी तथा जया के पुत्र थे। कवि देवर ने अपनी टीका के प्रारम्भ में अमरकीर्ति, सिंहनन्दि, धर्मभूषण, श्रीवधदैव तथा भट्टारक मुनि को नमस्कार किया है।[३] राघवपाण्डवीयप्रकाशिका की एक ताड़पत्रीय प्रति कन्नड़ लिपि में जैन सिद्धान्त भवन, आरा में उपलब्ध है।[४]

द्विसन्धान-महाकाव्य : तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य

द्विसन्धान-महाकाव्य के निर्माण में अन्य संस्कृत काव्यों का भी विशेष प्रभाव रहा है। धनञ्जय ने इसकी रचना के लिये किस प्रकार पूर्ववर्ती काव्यों से प्रेरणा ली, उसका तुलनात्मक पर्यवेक्षण निम्नलिखित विवरणों से स्पष्ट है—

रघुवंश और द्विसन्धान-महाकाव्य

द्विसन्धान-महाकाव्य कालिदास कृत रघुवंश से पर्याप्त अनुप्राणित है। रघुवंश से अनुप्राणित प्रसंगों के आधार पर कहा जा सकता है कि धनञ्जय द्वितीय (अनुकारी) कालिदास ही बन गया है। दशरथ अथवा पाण्डुराज की पत्नियों के दोहद लक्षण का चित्रण करने वाला, निम्न पद्य द्रष्टव्य है—

---

१. गुलाबचन्द्र चौधरी : जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ. ५२८

२. द्विसन्धान-महाकाव्य का प्रधान सम्पादकीय, पृ. २०

३. जिनरत्नकोश, पृ. १८५

४. द्रष्टव्य-जैन हितैषी, पृ. १५३-५४

जाने हि मृत्स्नाम्यवहारमात्रं मातुः प्रकाश्यच्छलमन्तरात्मा।
समुद्रवेलाजलासिक्तसीमां गर्भस्थितः स ग्रसते स्म भूमिम् ॥[१]

यहाँ दशरथ अथवा पाण्डुराज की पत्नियों को मिट्टी खाते हुए देखकर उसी प्रकार के हेत्वन्तर की कल्पना की गयी है, जिस प्रकार रघुवंश में सुदक्षिणा को मिट्टी खाते हुए देखकर गर्भस्थ शिशु के राज्यभोग की कल्पना चरितार्थ हुई है।

द्विवं नरुत्वानिव मोक्ष्यते भुवं दिगन्तविश्रान्तरथो हि तत्सुतः।
अतोभिलाषे प्रथमं तथाविधे मनो बबन्धान्यरसान् विलङ्घ्य सा ॥[२]

द्विसन्धान के अन्य अनेक प्रसंग रघुवंश से भावसाम्य रखते हैं। उदाहरणार्थ द्विस. ३.११ और रघुवंश २.१३ में रामजन्म सम्बन्धी नक्षत्रों की स्थिति का शोभावर्णन परस्पर साम्यता लिये हुए है। द्विसन्धान ३.१२ और रघु. ३.१५ में राजपुत्र के जन्म होने पर नक्षत्रों की तेजहीनता का वर्णन भी एक दूसरे से मिलता है। दोनों महाकाव्यों में तृतीय सर्ग का सोलहवां पद्य पुत्र जन्म के उस हर्षातिरेक का चित्रण करता है, जब राजा द्वारा पुत्रोत्पत्ति के समाचार लाने वाले सेवक को राजचिन्हों को छोड़कर शेष सभी आभूषणादि पुरस्कार स्वरूप प्रदान कर दिये गये। इस वर्णन में रघुवंश और द्विसन्धान का भावसाम्य तो मिलता ही है, विशेष द्रष्टव्य यह है कि दोनों काव्यों में इस वर्णन-साम्य के लिए तृतीय सर्ग का सोलहवां पद्य ही चुना गया। द्विस. ३.१७ तथा रघुवंश ३.१९ में भी जन्मोत्सव का वर्णन एक जैसा ही है। इसी प्रकार द्विस. ३.१४ का **दिशः प्रसेदुर्विमलं नमो भूत्** रघुवंश के **दिशः प्रसेदु मरुतो ववुः सुखाः** भावसाम्य एवं शब्दसाम्य दोनों लिये हुए है।

द्विसन्धान के युद्धवर्णन (१६.८) तथा रघुवंश की चतुरङ्गिणी सेना का वर्णन (७.३७) भी पर्याप्य साम्यता लिये हुए है।

मेघदूत और द्विसन्धान-महाकाव्य

द्विसन्धान-महाकाव्य में मेघदूत से साम्य रखने वाले अंश भी उपलब्ध होते हैं। यथा—

---

१. द्विस., ३.७
२. रघुवंश, ३.४

सुवर्णमय्यः शुचिरत्नपीठिका हरिन्मणीनां फलकैः कृतस्थलाः ।
कलापिनां यत्र निवासयष्टयः स्फुरन्ति मायूरपताकिका इव ॥[१]

यहाँ अयोध्या अथवा हस्तिनापुरी का वर्णन करते हुए मयूरों के बैठने के लिए बनाये गये स्वर्ण-दण्डों का चित्रण किया गया है । यह प्रसंग मेघदूत[२] से तुलनीय है । इसके अतिरिक्त द्विसन्धान के पद्य १.२७ तथा १.२९ भी क्रमशः मेघदूत (पूर्वमेघ) के पद्य ४२ तथा ३४ से साम्य रखते हैं ।

अभिज्ञान-शाकुन्तल एवं द्विसन्धान-महाकाव्य

द्विसन्धान-महाकाव्य पर कालिदास कृत अभिज्ञान-शाकुन्तल का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है । सीता का अपहरण करने के लिये गए हुए रावण की उक्ति के अनुसार यदि वन में इस प्रकार का लोकोत्तर रूप हो सकता है, तो अन्तःपुर की क्या आवश्यकता है, यदि वनलता ही लोकोत्तर सुन्दर होती है, तो बाग में लता लगाने से क्या प्रयोजन है ?[३] सीता का यह सौन्दर्य-वर्णन दुष्यन्त द्वारा किये गये शकुन्तला के निम्न सौन्दर्य-वर्णन से साम्य रखता है—

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य ।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः ॥[४]

किरातार्जुनीय तथा द्विसन्धान-महाकाव्य

धनञ्जय ने यद्यपि राजनीति के निरूपण में अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है, तथापि राज्यव्यवस्था के चित्रण में भारवि कृत किरातार्जुनीय का उन पर प्रभाव स्पष्ट ही परिलक्षित हो जाता है । इस सन्दर्भ में द्विसन्धान का निम्न पद्य द्रष्टव्य है—

जिगाय षड्विधमरिमन्तराश्रयं यतः
स्मयं त्यजति न षड्विधं बलम् ।
न यस्य यद्व्यसनमदीपि सप्तकं
स्थिराभवत् प्रकृतिषु सप्तसु स्थितिः ॥[५]

---

१. द्विस.,१.२५
२. मेघदूत (उत्तरमेघ),१९
३. द्विस.,७.८६
४. अभिज्ञान-शाकुन्तल,१.१७
५. द्विस.,२.११

यह पद्य किरातार्जुनीय के उस पद्य से भावसाम्य रखता प्रतीत होता है, जिसमें राजा की शासन-पद्धति तथा नीति-पथ का वर्णन करते हुए काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, और अहंकार आदि प्राणिशत्रुओं को जीत लेने का निर्देश किया गया है।[१]

द्विसन्धान का पद्य २.१० भी किरातार्जुनीयम् के पद्य १.३ से तुलनीय है।

शिशुपालवध तथा द्विसन्धान-महाकाव्य

द्विसन्धान-महाकाव्य पर माघकृत शिशुपालवध का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। द्वारकापुरी का चित्रण शिशुपालवध के द्वारका-वर्णन से अनुप्राणित प्रतीत होता है। धनञ्जय द्वारकापुरी के बाजारों का वर्णन निम्न प्रकार से करते हैं—

प्रवालमुक्ताफलशङ्खशुक्तिभिर्विनीलकर्केतनवज्रगारुडैः।

यदापणा भान्ति चतुःपयोधयः कुतोपि शुष्का इव रत्नशेषतः॥[२]

यहाँ मोती,मूंगा, शैल, सीप, कर्केतन, लाल, हीरा, गरुडमणि आदि से भरे हुए बाजारों की उन समुद्रों से तुलना की गयी है, जिनका पानी सूखकर रत्न ही शेष रह गये हों। यह वर्णन शिशुपालवध के निम्न वर्णन से साम्य रखता है—

वणिक्पथे पूगकृतानि यत्र भ्रमागतैरम्बुभिरम्बुराशिः।

लोलैरलोलद्युतिमाञ्झिमुष्णान् रत्नानि रत्नाकरतामवाप॥[३]

द्विसन्धान के पद्य १.२६ तथा १.३० भी क्रमशः शिशुपालवध के पद्य १.२५ तथा ३.४४ से तुलनीय है।

एवंविध हम देखते हैं कि सन्धान-कवि धनञ्जय ने अपने पूर्ववर्ती कालिदास, भारवि, माघ आदि महाकवियों की सुन्दर काव्याभिव्यक्तियों और रमणीय कल्पनाओं के प्रति महान् आदर प्रकट करते हुए उनसे अपने काव्य की श्रीवृद्धि का भी पूरा-पूरा लाभ उठाया है। इससे यह भी द्योतित होता है कि उन्होंने अपने समय तक की महान् काव्यकृतियों का विशेष रसास्वादन किया था और पूर्व कवियों की

---

१. किरातार्जुनीय,१.९

२. द्विस.,१.३२

३. शिशुपालवध,३.३८

धरोहर के रूप में प्राप्त काव्यनिधि को नवीन काव्य-मूल्यों के विकास द्वारा विशेष समृद्ध किया।

निष्कर्ष

इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय में डॉ. के.बी. पाठक, डॉ. भण्डारकर तथा ए. वेंकटसुब्बइया प्रभृति विद्वानों के मतों का निराकरण करते हुए धनञ्जय को ८००ई. के लगभग माना गया है, इसकी पुष्टि डॉ. ए.एन. उपाध्ये तथा डॉ. वी.वी. मिराशी आदि विद्वानों के मतों से होती है। धनञ्जय के पिता वासुदेव तथा माता श्रीदेवी थीं। गुरु का नाम दशरथ था। धनञ्जय अन्य जैन कवियों की भाँति साधु न होकर गृहस्थ था। वह संस्कृत का एक उद्भट विद्वान् था। धनञ्जय ने पाँच कृतियों की रचना की—१. विषापहार-स्तोत्र, २. नाममाला, ३. अनेकार्थ-नाममाला, ४. यशोधरचरित तथा ५. द्विसन्धान-महाकाव्य। द्विसन्धान का अपरनाम 'राघवपाण्डवीय' है। नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें रामायण तथा महाभारत की कथाएं उपनिबद्ध हैं। द्विसन्धान पर नेमिचन्द्र की पदकौमुदी, बद्रीनाथ कृत टीका, पुष्यसेन कृत टीका एवं कवि देवर कृत राघवपाण्डवीयप्रकाशिका आदि टीकाएं उपलब्ध हैं। द्विसन्धान की अन्य संस्कृत काव्यों से तुलना करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि यह कालिदास के रघुवंश, मेघदूत तथा अभिज्ञान-शाकुन्तल, भारवि के किरातार्जुनीय तथा माघकृत शिशुपालवध से पर्याप्त प्रभावित रहा है। लेखक ने पूर्ववर्ती महाकाव्य-परम्परा का पालन करते हुए 'द्विसन्धान-महाकाव्य' को एक ऐसे उदाहरण के रूप में उपनिबद्ध किया, जिससे कि रामायण एवं महाभारतीय युगीन महाकाव्य-चेतना शब्दाडम्बरपूर्ण काव्य-लेखन से चमत्कृत हो उठे। सन्धान-शैली के आदि-कवि के रूप में धनञ्जय का नाम उन गिने-चुने कवियों में लिखा जा सकता है, जिन्होंने संस्कृत साहित्य के सृजन को मौलिक आयाम दिये।

तृतीय अध्याय

द्विसन्धान-महाकाव्य का सन्धानात्मक शिल्प-विधान

संस्कृत भाषा की सहज प्रकृति है कि उसका एक ही शब्द चाहे वह क्रिया हो या संज्ञा, विभिन्न अर्थ रखता है। इस प्रकार के शब्द संस्कृत के अनेकार्थ या नानार्थ कोशों में संग्रहीत हैं। संस्कृत की इस नानार्थक प्रवृत्ति से प्रेरित होकर ही परवर्ती संस्कृत कवियों माघ, सुबन्धु तथा बाण आदि ने चित्रकाव्य अथवा श्लेषकाव्य की सर्जना की। यहाँ तक कि दसवीं से तेरहवीं शताब्दी के मध्य काव्य का भावपक्ष गौण होता गया और भाषापक्ष मुख्य। दो, तीन, चार, पाँच, सात, बीस, चौबीस, सौ, यहाँ तक कि लक्षार्थी काव्यों की रचना की होड़ लग गयी।

संस्कृत भाषा की नानार्थक प्रवृत्ति के दर्शन वैदिक काल में भी होते हैं। उदाहरणतया, 'इन्द्रशत्रु'— यह समस्त पद स्वरचिन्हों के माध्यम से द्व्यर्थी हो जाता है। अज्ञानतावश दानवों द्वारा इसका अशुद्धोच्चारण होने पर उन्हें मृत्युरूपी दुष्फल का भागी होना पड़ा। यह परम्परा जब अपनी चरमावस्था को प्राप्त हुई, तब ऐसे काव्यों की रचना होने लगी, जिनसे मस्तिष्क की पिपासा तो शान्त हुई, किन्तु हृदय तृषित ही रह गया। अब काव्य विदग्धजन द्वारा भी कोश से पठनीय होता चला गया। इस परम्परा के अन्तर्गत द्व्यर्थी, त्र्यर्थी, चतुरर्थी, सप्तार्थी आदि सभी सन्धान-काव्य परिगणित किये जाते हैं।

सन्धान-काव्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ

संस्कृत भाषा में जहाँ पर्यायवाची शब्दों का प्राचुर्य है, वहीं नानार्थक शब्दों का अभाव भी नहीं है। संस्कृत की इस उर्वर प्रकृति के फलस्वरूप कालान्तर में सन्धान अथवा नानार्थक काव्य विधा का विकास हुआ। इस सन्दर्भ में संस्कृत

साहित्य के इतिहास पर यदि दृष्टिपात किया जाये तो, यह स्पष्ट हो जाता है कि कालिदासीय भाव-प्रधान काव्य-शैली के स्थान पर 'अर्थ-गौरव' को स्थानान्तरित करने वाले काव्यकारों में भारवि का नाम सर्वप्रथम आता है। अर्थगौरव के लिये स्थापित इस कलापक्ष के माध्यम से संस्कृत काव्य-साहित्य परवर्ती काल में शाब्दिक चमत्कृति, विविध छन्दप्रयोग, अलंकार-विन्यास तथा पाण्डित्य -प्रदर्शन का क्षेत्र-मात्र बनकर रह गया है।

महाकवि माघ द्वारा प्रयुक्त कृत्रिम चित्रालंकार यमक उक्त तथ्य की पुष्टि करते हैं। स्वाभाविकता तथा सारल्य को तिरष्कृत करते हुए यमक काव्य को दुरूह व आडम्बरपूर्ण बना देते हैं। 'प्रत्यक्षरश्लेषमयी', 'बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्' तथा 'नैषधं विद्वदौषधम्' आदि उक्तियाँ यह सिद्ध करती हैं कि इस प्रकार के काव्य-विकास में सुबन्धु, बाण तथा श्रीहर्ष का योगदान भी कम नहीं है।

कोई भी परम्परा विश्व में ऐसी नहीं है, जो एक-न-एक दिन अपनी चरमावस्था पर न पहुँच गयी हो। यमक काव्य से प्रारम्भ होकर आडम्बरपूर्ण काव्य परम्परा अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचकर ऐसे काव्यों पर समाप्त हुई, जिनको पढ़ना बच्चों का खेल न होकर, विदग्ध काव्य रसिक के लिये दु:साध्य हो गया। अन्ततः कोश या टीकाओं का अवलम्बन लेना आवश्यक हो गया। इस परम्परा में सन्धान-काव्य विधा का विकास हुआ और द्व्यर्थक, त्र्यर्थक, चतुरर्थक, सप्तार्थक आदि काव्यों की कालान्तर में रचना हुई।

सन्धान-काव्य में दो कथाएं किस प्रकार प्रस्तुत की जाती हैं, इस विषय पर विभिन्न संस्कृत मनीषियों ने समय-समय पर अपने मन्तव्य प्रस्तुत किये हैं। डॉ. ए.बी. कीथ के मत में, "यह अद्‌भुत कार्य आपाततः अविश्वसनीय प्रतीत होता है, तो भी संस्कृत भाषा के स्वभाव को देखने से इसकी व्याख्या विशेष कठिनता के बिना हो जाती है, पद्य की प्रत्येक पंक्ति को एक इकाई मानकर उसका बिल्कुल विभिन्न रूप से अक्षरसमूहात्मक शब्दों में परस्पर विश्लेषण किया जा सकता है, साथ ही समासों के अर्थ पर भी तदन्तर्गत शब्दों के परस्पर सम्बन्धों को जिस रूप से समझा जाता है, उसका बड़ा गहरा प्रभाव होता है, चाहे शब्दों को एक अर्थ में लिया जाये। इसके अतिरिक्त यह बात विशेष महत्व रखती है कि संस्कृत के शब्दकोश एक शब्द के अनेक प्रकार के अर्थ देते हैं, उनमें हमें बड़े विचित्र शब्दों की एक बड़ी संख्या मिलती है, अपने विशेष रूप के कारण वे शब्द इस अभिप्राय

श्लेष-युक्त काव्य में पद को विभिन्न अर्थ के लिये विभिन्न प्रकार से नियोजित किया जाता है इस विधि को सभंग श्लेष कहते हैं। बाण और सुबन्धु ने इस विधि में सफलता प्राप्त की।

अग्रिम विकास इसका भाषा-श्लेष के रूप में हुआ जहाँ एक अर्थ संस्कृत से तथा दूसरा प्राकृत भाषा से समझा जाता है।

श्लेष का एक पद्य में होने से ही क्या है ? यह तो सम्पूर्ण महाकाव्य में होना चाहिए, अत: दण्डी, सन्ध्याकरनन्दी, धनञ्जय तथा कविराज के दो अर्थों से युक्त, राजचूडामणि का राघवयादवपाण्डवीय तथा चिदम्बर की कथात्रयी तीन अर्थों से युक्त, अज्ञातनामा कवि का नलयादवराघवपाण्डवीय चार अर्थों से युक्त, चिदम्बर का पञ्चकल्याणचम्पू पाँच अर्थों से युक्त, किसी जैन तपस्वी का सप्तसन्धानकाव्य, तदनन्तर २४ अर्थों से युक्त, शतार्थक और अन्तिम विकास आठ लाख अर्थों वाले काव्यों में हुआ। इस युग में ऐसी रचनाएं सामान्य बात हो गयीं। एक पद्य को सरल रीति से पढ़कर उसी पद्य को उलटकर पढ़ने से अर्थ निकालकर नये एवं चमत्कारपूर्ण साहित्यिक कीर्तिमान स्थापित किये गये, जिन्हें गतप्रत्यागत या विलोम काव्य कहा जाता है। ऐसे काव्य दर्जनों की संख्या में लिखे गये, जिनमें सूर्यपण्डित का रामकृष्णविलोम-काव्य प्रसिद्ध था। द्विसन्धान-महाकाव्य इसी शृंखला से जुड़ा हुआ है, जिसमें रामायण तथा महाभारत की कथाएं एक साथ गुंथी हुई हैं।

द्विसन्धान-महाकाव्य की कथावस्तु

'द्विसन्धान-महाकाव्य' में 'द्विसन्धान' शब्द रचना के द्व्यर्थी स्वभाव का सूचक है। इस महाकाव्य का अपर नाम 'राघवपाण्डवीय' है। यह नाम इस बात को प्रतिपादित करता है कि इस महाकाव्य में रामायण तथा महाभारत अथवा रघुकुल व पाण्डुकुल की कथाएं एकसाथ सफलतापूर्वक निबद्ध की गयी हैं। यह महाकाव्य १८ सर्गों में विभाजित है। रामायण और महाभारत की कथा के सन्दर्भ में द्विसन्धान-महाकाव्य की कथावस्तु इस प्रकार है—

प्रथम सर्ग

अयोध्याहास्तिनपुरव्यावर्णनम्

सर्वप्रथम, मङ्गलाचरण में मुनिसुव्रत अथवा नेमि के उपचार से सभी तीर्थंकरों की वन्दना की गयी है। तदन्तर राम/पाण्डव कथा का महत्व बताते हुए गौतमगणधर के मुख से श्रेणिकराज को राम/पाण्डव कथा सुनवायी गयी है—

रामकथा–प्रथमतः लवण-समुद्र से आवेष्टित जम्बूद्वीप में स्थित किन्नर एवं देवों की भी प्रिय अयोध्या नगरी का वर्णन किया गया है। यथासामर्थ्य नगरी के वैभव का वर्णन करने के उपरान्त सर्गान्त में कवि स्वयं को इस नगरी का वास्तविक वर्णन करने में अयोग्य बताता है, क्योंकि भाग्य स्वयमेव इस नगरी में रामचन्द्र के लिये अन्यत्र अनुपलब्ध सामग्री एवं धन-वैभव की सृष्टि करता है।

पाण्डवकथा–प्रथमतः लवण-समुद्र से आवेष्टित भरत क्षेत्र में स्थित आर्य एवं किन्नर आदि देवों के निवास योग्य हस्तिनापुर नामक नगरी का वर्णन किया गया है। यथासामर्थ्य नगरी के वैभव का वर्णन करने के अनन्तर सर्गान्त में कवि स्वयं को इस नगरी का वास्तविक वर्णन करने में अयोग्य बताता है, क्योंकि भाग्य स्वयमेव इस नगरी में अर्जुन के लिये लोकोत्तर वैभव की सृष्टि करता है।

द्वितीय सर्ग

दशरथपाण्डुराजवर्णनम्

रामकथा–इस सर्ग में अयोध्या नगरी में राजा दशरथ के शासन का वर्णन है। दशरथ की रानी कौशल्या का वर्णन भी है।

पाण्डवकथा–इस सर्ग में हस्तिनापुर में पाण्डुराज के शासन का वर्णन है। पाण्डु-पत्नी कुन्ती का वर्णन भी है।

तृतीय सर्ग

राघवकौरवोत्पत्तिवर्णनम्

रामकथा– इस सर्ग में राघवों (राम, लक्ष्मण आदि) की उत्पत्ति दिखायी गयी है। उत्पत्ति के अनन्तर उनकी शिक्षा-दीक्षा का वर्णन है। शिक्षा -दीक्षा के पश्चात् नीति-निपुणता के द्वारा भी राजाओं व समस्त पृथ्वी को वश में किये जाने का वर्णन है।

पाण्डवकथा–इस सर्ग में पाण्डवों (युधिष्ठिर आदि) की उत्पत्ति दिखायी गयी है। उत्पत्ति के पश्चात् उनकी शिक्षा-दीक्षा का वर्णन है। एतदुपरान्त नीति-निपुणता द्वारा सभी राजाओं और समस्त पृथ्वी को वश में किये जाने का वर्णन है।

चतुर्थ सर्ग

राघवपाण्डवारण्यगमनवर्णनम्

रामकथा—इस सर्ग में वृद्धावस्था को प्राप्त दशरथ द्वारा वैराग्य लेने का निश्चय और राम के राज्याभिषेक की तैयारी का वर्णन है। राज्याभिषेक से ईर्ष्यायुक्त होकर कैकेयी द्वारा दशरथ से वर रूप में राम-बनवास माँगना। दशरथ के वैराग्य ले लेने पर राम द्वारा लक्ष्मण के साथ अरण्य-गमन तथा नर्मदा-तीर पर पहुँचने का वर्णन हुआ है।

पाण्डवकथा— इस सर्ग में वृद्धावस्था के चिह्नों को देखकर परिग्रह से विरक्त पाण्डु द्वारा राजनीति-शिक्षा के उपरान्त युधिष्ठिर के राज्याभिषेक की तैयारी का वर्णन है। धृतराष्ट्र से उत्पन्न कौरवों के द्यूत-क्रीड़ा में जीत जाने पर युधिष्ठिर का भाइयों के साथ वन-गमन, तथा नर्मदा-तीर पर पहुँचने का वर्णन हुआ है।

पञ्चम सर्ग

तुमुलयुद्धव्यावर्णनम्

रामकथा—राम का दण्डकारण्य में पहुँचना। लक्ष्मण द्वारा सूर्पणखा के पुत्र शम्बुकुमार की अपमृत्यु या कीचक वन का लक्ष्मण द्वारा काटा जाना। पुत्र-मृत्यु के कारण मन में प्रतिशोध की भावना होने पर भी सूर्पणखा का लक्ष्मण के सौन्दर्य पर मोहित हो जाना। कामपूर्ति के लिये कहने पर लक्ष्मण द्वारा सूर्पणखा का अपमान। अपमानित सूर्पणखा का लक्ष्मण को कष्ट पहुँचाने का संकल्प। तदनन्तर सूर्पणखा की प्रेरणा से खर-दूषण का राम-लक्ष्मण से युद्ध करने के लिये सेना सहित प्रयाण। युद्ध-वर्णन।

पाण्डवकथा—पाण्डवों का मत्स्य देश की विराट् भूमि में पहुँचना। विराट् भूमि में विराट्राज के साले कीचक का द्रौपदी पर मोहित होना तथा उससे प्रेम-निवेदन करना। द्रौपदी द्वारा कीचक का अपमान। कीचक का द्रौपदी को बलपूर्वक उठा लाने के निश्चय से उसके पास जाना। कीचक की नीच भावना को जानकर भीम द्वारा कीचक से संघर्ष। संघर्ष में अपमानित होने पर तपस्या द्वारा कीचक का शरीर को कष्ट पहुँचाने का निश्चय। बलिष्ठ कीचक के वधोपरान्त स्वार्थसिद्धि हेतु विपुल गोधन को चुराने के लिये दुर्योधन का सेना भेजना। युद्ध-वर्णन।

षष्ठ सर्ग

खरदूषणवधगोग्रहनिवर्तनम्

रामकथा—राम का अनुसरण करते हुए लक्ष्मण का युद्ध-भूमि को प्रस्थान। खर-दूषण से भीषण युद्ध। सेना को ध्वस्त कर खर-दूषण को निस्तेज करना। युद्ध-समाप्ति पर युद्ध-स्थल का वर्णन।

पाण्डवकथा—भीम का अनुसरण करते हुए अर्जुन का युद्ध-भूमि को प्रस्थान। विराट् के गोधन की रक्षा के लिये शत्रु-सेना से भीषण युद्ध। सेनाओं को छिन्न-भिन्न कर गोधन को चुराने के लिये बनाये गये कीचक (बाँस) के बाड़े का भेदन। युद्ध-समाप्ति पर युद्ध स्थल का वर्णन।

सप्तम सर्ग

सीताहरण-लङ्काद्वारावतीप्रस्थानकथनम्

रामकथा—शरद्-ऋतु-वर्णन। खर-दूषण का संहार हो जाने पर सूर्पणखा को समझाने के लिये रावण का आगमन। रावण के आगमन से भयभीत समस्त चराचर का वर्णन। सूर्पणखा द्वारा सामादि के प्रयोग से समस्त दण्डकारण्य के गुणों का उल्लेख करना और उस पर आधिपत्य जमाये रखने के लिये रावण को प्रेरित करना। सूर्पणखा द्वारा सीता के सौन्दर्य का वर्णन एवं उसका अपहरण करने के लिये रावण को उकसाना। सुन्दरी सीता को देखकर एवं अत्यन्त निकृष्ट उद्वेग को प्राप्त कर रावण द्वारा सीता का अपहरण। तदुपरान्त दक्षिण में समुद्र-तट पर जाना।

पाण्डवकथा—गोधन पर घेरे की समाप्ति होते ही शरत्काल का प्रारम्भ। शरद्-ऋतु-वर्णन। शरत्काल में देवों और दैत्यों द्वारा कामोपभोग। भीम द्वारा युधिष्ठिर को जरासंध से किये गये अपमान का प्रतिशोध लेने की सम्मति। शरद्-ऋतु के कारण परिस्थितियों की अनुकूलता का वर्णन। युधिष्ठिर द्वारा नीतिपूर्ण वचनों में अपने अनुज को समझाना।

अष्टम सर्ग

रावणयुधिष्ठिरलङ्काद्वारावतीप्रवेशकथनम्

रामकथा—सीता-अपहरण के अनन्तर सीता सहित रावण द्वारा लङ्का-प्रस्थान। मार्ग में समुद्र-वर्णन। लङ्का-वर्णन। लङ्का पहुँचने पर विभीषण, कुम्भकर्ण

सहित इन्द्रजित (मेघनाद) द्वारा रावण का स्वागत। नगर की स्त्रियों का रावण के दर्शनार्थ उमड़ पड़ना। कष्टसाध्य एवं असह्य कामबाधा से पीड़ित रावण के लंकावास का वर्णन। रावण का स्वजनों के साथ राजनैतिक उपायों पर विचार-विमर्श।

पाण्डवकथा—पाण्डवों का द्वारका-प्रस्थान वर्णन। द्वारका के समीपस्थ समुद्र का वर्णन। भीम या अर्जुन द्वारा द्वारका-वर्णन। द्वारका पहुँचने पर श्रीकृष्ण द्वारा युधिष्ठिर का स्वागत। नगर की स्त्रियों का युधिष्ठिर के दर्शनार्थ उमड़ पड़ना। दुर्योधन की असह्य मनमानी से पीड़ित युधिष्ठिर का द्वारकावास। युधिष्ठिर का स्वजनों के साथ राजनैतिक उपायों पर विचार-विमर्श।

नवम सर्ग

मायासुग्रीवनिग्रहजरासन्धबलविद्रावणम्।

रामकथा—सीता-अपहरण के अनन्तर शोक-सन्तप्त राम द्वारा सीता को ढूंढना। सुग्रीव द्वारा किष्किन्धा में साहसगति द्वारा फैलाये जा रहे त्रास तथा पटरानी तारा को बलात् हस्तगत करने की घटना का वर्णन। राम द्वारा दण्ड-नीति को प्रयोग करने का निश्चय। किष्किन्धा में राम-साहसगति का घनघोर युद्ध। साहसगति -वध। राम द्वारा किष्किन्धा-प्रवेश। सुग्रीव द्वारा राम से अपनी पुत्री के साथ विवाह करने का प्रस्ताव रखना। राम को सुग्रीव द्वारा धन-समर्पण।

पाण्डवकथा– शरत्काल में भी जरासंध का शोक-संताप से जलना। नारायण के घात की प्रतिज्ञा-पूर्ति के लिये ताम्बूल आदि का त्याग। ग्रीष्म ऋतु का आगमन। ग्रीष्म ऋतु की उग्रता का वर्णन। जरासंध की सेना का श्रीकृष्ण की ओर प्रस्थान। क्रोधाभिभूत श्रीकृष्ण का पाण्डवों सहित युद्ध-हेतु आगमन। घनघोर युद्ध-वर्णन। जरासंध-पराजय। कृष्ण-बलराम का सौराष्ट्र-स्थित द्वारकापुरी में प्रवेश। अर्जुन के पराक्रम से प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण द्वारा अपनी बहिन सुभद्रा के साथ विवाह करने का अर्जुन से प्रस्ताव रखना। श्री कृष्ण द्वारा अर्जुन-सुभद्रा-परिणय की तैयारी।

दशम सर्ग

दूतसंवादकथनम्

रामकथा—लक्ष्मण का रामदूत के रूप में सुग्रीव के निकट आना। लक्ष्मण द्वारा सुग्रीव को फटकार। प्रतिवर्जना के रूप में क्रोधाविष्ट सुग्रीव द्वारा रावण के बल की प्रशंसा करते हुए लक्ष्मण को रावण से युद्ध न करने के लिये कहना। कठोर व्यवहार का आश्रय लेकर लक्ष्मण द्वारा सुग्रीव को राम के समीप भेजना।

पाण्डवकथा—जरासंध के दूत पुरुषोत्तम का श्रीकृष्ण के पास आगमन। पुरुषोत्तम द्वारा श्रीकृष्ण को जरासंध के सम्मुख समर्पण करने की सम्मति। श्रीकृष्ण एवं बलराम का दूत पुरुषोत्तम को फटकारना। दूत द्वारा स्वामी के प्रति अवज्ञा असह्य होने की बात कहकर स्वदेश वापस जाना।

एकादश सर्ग

सुग्रीवजाम्बवानाञ्जनेय-नारायणपाण्डवादिमन्त्रकथनम्

रामकथा—सुग्रीव द्वारा अपने मन्त्रियों के साथ मन्त्रशाला में मन्त्रणा करना। जाम्बवान् द्वारा समग्र युद्धनीति का विवेचन। हनुमान द्वारा जाम्बवान् का अनुमोदन। मन्त्रणा के अनन्तर युद्ध का निश्चय।

पाण्डवकथा—श्रीकृष्ण द्वारा नीति-निपुण व्यक्तियों से मन्त्रशाला में मन्त्रणा करना। युधिष्ठिर द्वारा समस्त युद्ध-नीति की विवेचना। भीम द्वारा युधिष्ठिर का अनुमोदन। बलराम द्वारा युद्ध के पक्ष में सम्मति एवं युद्ध का निश्चय।

द्वादश सर्ग

लक्ष्मणवासुदेवकोटिशिलोद्धरणकथनम्

रामकथा—मंत्रणा-समाप्ति पर सुग्रीव का राम आदि के साथ कोटिशिला की ओर गमन। हनुमान एवं लक्ष्मण की कोटिशिला के सम्बन्ध में वार्त्ता। तदनन्तर लक्ष्मण द्वारा कोटिशिला-उद्धरण।

पाण्डवकथा— मंत्रणा-समाप्ति पर श्रीकृष्ण का बलराम तथा अन्य राजाओं के साथ कोटिशिला की ओर गमन। भीम एवं श्रीकृष्ण की कोटिशिला के सन्दर्भ में वार्त्ता। तदनन्तर श्रीकृष्ण द्वारा कोटिशिला-उद्धरण।

त्रयोदश सर्ग

हनुमन्नारायणदूताभिगमनम्

रामकथा—हनुमान का रामदूत के रूप में लङ्का-गमन। लङ्का-वर्णन। रावण की राजसभा में हनुमान का रावण को राम की शरण में जाने का परामर्श। रावण का क्रोधित होकर हनुमान को फटकारना। हनुमान का लङ्का से लौटते हुए लङ्का के किनारे सुन्दर-वन में प्रवेश। सुन्दर-वन में हनुमान द्वारा सीता को राम-प्रदत्त अंगूठी देते हुए सांत्वना देना। तदनन्तर राम के समीप वापिस आना।

पाण्डवकथा—श्रीशैल का कृष्णदूत के रूप में जरासंध की राजधानी राजगृह पहुँचना। राजगृह-वर्णन। जरासंध की राजसभा में श्रीशैल द्वारा जरासंध को कृष्ण से समझौता करने के लिये कहना। जरासंध का क्रोधित होकर श्रीशैल को फटकारना। श्रीशैल द्वारा राजगृह से लौटते हुए राजगृह के किनारे सुन्दर-वन में प्रवेश। सुन्दर-वन में श्रीकृष्ण पर मुग्ध नायिका सुन्दरी को सांत्वना देकर श्रीशैल का कृष्ण के निकट वापिस लौटना।

चतुर्दश सर्ग

प्रयाणनिरूपणम्

रामकथा—राम, सुग्रीव आदि सहित समस्त सेना का शत्रु की ओर प्रयाण। सेना में रानियों तथा अन्य स्त्रियों के जाने का भी वर्णन। सेना का दक्षिण समुद्र के तट पर पहुँचना।

पाण्डवकथा—श्रीकृष्ण, बलराम आदि सहित समस्त पाण्डव सेना का शत्रु की ओर प्रयाण। सेना में रानियों तथा अन्य स्त्रियों के जाने का भी वर्णन। सेना का गंगा-तट पर पहुँचना।

पञ्चदश सर्ग

कुसुमावचय-जलक्रीडाव्यावर्णनम्

रामकथा—समुद्र-तट पर वन में सुग्रीव आदि द्वारा विश्रान्ति के लिये आमोद-प्रमोद। स्त्रियों द्वारा पुष्पावचय। नायक-नायिकाओं का जल-क्रीडा-वर्णन।

पाण्डवकथा– गंगा-तट पर वन में यादववंशी राजाओं द्वारा विश्रान्ति के लिये विहार करना। स्त्रियों द्वारा पुष्पावचय। नायक-नायिकाओं का जल-क्रीडा-वर्णन।

षोडश सर्ग

उभयसङ्ग्रामव्यावर्णनम्

रामकथा–राम की सेना के लङ्का पहुँचने पर रावण युद्ध के लिये तत्पर तथा लङ्का के बाहर आगमन। विभीषण का राम से शरण माँगना। कुम्भकर्ण-वध। मारीच-पराजय। मेघनाद-वध। अक्षयकुमार-वध। राम-रावण-सेना का भयंकर युद्ध। रात्रि-आगमन पर युद्ध-विराम।

पाण्डवकथा–श्रीकृष्ण की सेना का राजगृह पहुँचना। क्रोधाविष्ट जरासन्ध का युद्ध के लिये राजगृह से बाहर आना। दुर्योधन के एक सहयोगी सात्यकि का युधिष्ठिर से शरण माँगना। दुःशासन-वध। दुर्मर्षण-वध। कर्ण-पराजय। जयद्रथ-वध। भीष्म-हनन। पाण्डव-कौरव सेनाओं का घनघोर युद्ध। रात्रि के आगमन पर सेनाओं का शिविर-प्रवेश।

सप्तदश सर्ग

रात्रिसम्भोगव्यावर्णनम्

रामकथा–युद्ध-भूमि में रावण का आगमन। बिना कवच क रावण का राम से युद्ध। शक्ति-प्रहार से लक्ष्मण मूर्च्छा। हनुमान द्वारा भरत को सूचित करना एवं द्रोणाचल से औषधि लाना। लक्ष्मण को चैतन्य-प्राप्ति से राम के युद्ध-शिविर में हर्ष की लहर। तदन्तर रात्रि-सम्भोग-वर्णन।

पाण्डवकथा–जरासन्ध का बिना कवच के युद्ध-भूमि में आगमन। श्रीकृष्ण-जरासन्ध युद्ध। श्रीकृष्ण की अशक्तता, पुनः संभलकर अर्जुन की रक्षा। श्रीकृष्ण द्वारा पाण्डवों का उत्साह-वर्धन। तदनन्तर रात्रि-सम्भोग-वर्णन।

अष्टादश सर्ग

नायकाभ्युदयरावणजरासन्धवधव्यावर्णनम्

रामकथा–रावण के मायावी युद्ध से राम की सेना में संत्रास। राम द्वारा रावण की माया का प्रतिकार। सुग्रीव की सतत कर्मठता से रावण की विजयाभिलाषा धूमिल। घनघोर-युद्ध में रावण-वध। सीता-राम-मिलन। विजय

प्राप्त कर राम द्वारा विभीषण को लंकाधिपति बनाना। राम की अयोध्या में वापसी। वापसी पर चक्ररत्न की पूजा। राज्याभिषेक के अनन्तर एकच्छत्र राज्यभार वहन करना। न्याय द्वारा दशों दिशाओं की स्वामित्व-प्राप्ति।

पाण्डवकथा—जरासन्ध के युद्ध-कौशल से यादव-सेना में संत्रास। श्रीकृष्ण द्वारा जरासन्ध के कौशल का प्रतिकार। नकुल के पराक्रम से जरासन्ध की विजयाभिलाषा धूमिल। घनघोर-युद्ध में जरासन्ध वध। भूमि के स्वतन्त्र हो जाने से मुक्ति की श्वास। विजय-प्राप्ति पर युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम आदि को विशाल राज्य की प्राप्ति। तदनन्तर कृष्ण का द्वारका वापस आना। वापसी पर चक्ररत्न की पूजा एवं एकच्छत्र राज्य का सुचारु वहन। न्यायादि द्वारा दशों दिशाओं में कीर्ति-पताका फहराना।

द्विसन्धान का सन्धानात्मक शिल्प-विधान

रामायण तथा महाभारत पर विहंगम दृष्टिपात करने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों आदिकाव्यों की कथा-वस्तु तथा निर्माण शैली में उल्लेखनीय अन्तर है। प्रथमत: महाभारत का रामायण से कथा-वस्तु की दृष्टि से किसी भी प्रकार का साम्य दृष्टिगत नहीं होता। द्वितीय, महाभारत का कलेवर एक लाख श्लोक प्रमाण है, जबकि रामायण का केवल चौबीस हजार श्लोक प्रमाण ही है। तृतीय, महाभारत में कतिपय पात्रों की मृत्यु अथवा वध के लिये प्रतिज्ञा का आश्रय लिया गया है, किन्तु रामायण में इस प्रकार की प्रतिज्ञा नहीं की गयी। चतुर्थ, राघव-पक्ष को पाण्डव-पक्ष के तथा रावण-पक्ष को कौरव-पक्ष के समकक्ष रखने पर कथा की गतिशीलता दु:साध्य प्रतीत होती है। पंचम, रामायण तथा महाभारत के पात्रों के नामों तथा नगर आदि भौगोलिक वर्णनों में भी भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार के वैभिन्न्य के उपस्थित रहने पर यह शंका होती है कि क्या कवि दोनों कथाओं का वर्णन कर पायेगा ? क्या वह दोनों कथाओं में सामञ्जस्य स्थापित कर पायेगा ?

रामायण तथा महाभारत में विलक्षणता होने पर भी, उपर्युक्त कथावस्तु के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि धनञ्जय ने अपने विलक्षण पाण्डित्य एवं सूक्ष्म बुद्धि कौशल से विभिन्न समस्याओं का समाधान ढूंढ निकाला है। रावघपक्ष तथा पाण्डवपक्ष में गुणादि की समानता प्राप्त कर उनको कथा रूप में निबद्ध करने के

लिये उसने रामायण तथा महाभारत से प्रयत्नपूर्वक कुछ ऐसे स्थल खोज निकाले हैं, जिससे कि उसकी सन्धानात्मक काव्य शैली निर्बाध चल पायी है।

द्विसन्धान-महाकाव्यकार परम्परागत रस-अलंकार-छन्द-विन्यास के अतिरिक्त अक्षर-विन्यास के महत्व को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं।[१] एक ओर वे सन्धान-विधा के लिये व्याकरण की योग्यता कवि के लिये आवश्यक मानते हैं तो दूसरी ओर चित्रकाव्य आदि की महत्ता पर भी बल देते हैं।[२] अतएव, द्विसन्धानात्मक काव्य की शिल्पवैधानिक रचना-विधियों का मुख्यत: तीन विभागों में अध्ययन किया जा सकता है—

१. श्लेषमूलक, २. यमकमूलक तथा ३. चित्रालंकारमूलक।

१. श्लेषमूलक सन्धान-विधि

श्लेष अलंकार को आधार बनाकर प्राय: सभी संस्कृत काव्यशास्त्रियों तथा साहित्येतिहासकारों ने सन्धान विधि पर पर्याप्त ऊहापोह किया है। राघवपाण्डवीय के कर्ता कविराज ने सन्धान-काव्य की श्लेषमूलक रचनाशैली को निम्न पद्य में स्पष्ट किया है—

प्राय: प्रकरणैक्येन विशेषण-विशेष्ययो:।
परवृत्या क्वचित्तद्वदुपमानोपमेययो: ॥
क्वचित्पदैश्च नानार्थै: क्वचिद्वक्रोक्तिभङ्गिभि:।
विधास्यते मया काव्यं श्रीरामायणभारतम् ॥[३]

कविराज की उपर्युक्त सन्धान-विधि का शिल्प-वैधानिक विश्लेषण अत्यन्त महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। कविराज ने सन्धान रचना विधि की एक प्रकार से तकनीकी प्रविधि का ही सृजन कर डाला। जिसकी निम्नलिखित पाँच विधाएं सम्भव हैं—

---

१. द्विस., १.३-४
२. वही, ३.३६-३७
३. राघवपाण्डवीय, काव्यमाला-६२, बम्बई, १८९७, १.३७-३८

(क) प्रकरण-समानता (प्रकरणैक्येन)

सन्धान-काव्य की रचना के लिये दो कथाओं में प्रकरणों की एकता होना आवश्यक है। धनञ्जय ने रामायण तथा महाभारत से कुशलतापूर्वक समान कथा-प्रसंगों का चयन किया है, फलतः दोनों कथाओं का समानान्तर रूप से विन्यास करना सम्भव हो पाया है। जिन प्रसंगों में कवि समन्वय स्थापित नहीं कर पाया है, उनका महाकाव्य में बलात् ग्रथन नहीं किया गया है। किन्तु, कवि द्वारा जैन-धर्म में आस्था होने के कारण कहीं-कहीं जैन-मत-सम्मत परिवर्तन कर कथा-प्रसंगों में संगति स्थापित की गयी है। उदाहरणतः लक्ष्मण तथा कृष्ण द्वारा कोटिशिला का उद्धरण। राम द्वारा बालि-वध प्रसंग का भीम के स्थान पर अर्जुन द्वारा जरासंध की पराजय के प्रसंग से सामञ्जस्य स्थापित किया गया है। अस्तु, द्विसन्धान-महाकाव्य में प्रयुक्त कतिपय प्रकरणैक्य के उल्लेखनीय प्रसंग इस प्रकार हैं—

राम-जन्म व युधिष्ठिर-जन्म (३. ११), भरत-जन्म तथा भीम-अर्जुन-जन्म (३. २८) लक्ष्मण-जन्म व नकुल-जन्म (३. २९), शत्रुघ्न-जन्म एवं सहदेव-जन्म (३. ३०), राम-विवाह तथा युधिष्ठिर-विवाह (३. २६), रामादि द्वारा वन-गमन तथा युधिष्ठिर आदि द्वारा वन-गमन (४. ३६), सूर्पणखा की लक्ष्मण पर कामासक्ति तथा कीचक की द्रौपदी पर कामासक्ति का वर्णन (५.७), खर-दूषण का राम आदि से युद्ध तथा कौरव-पाण्डव युद्ध (६.१-३५), खर-दूषण वध व कीचक वध (६.३६), लंका-वैभव-वर्णन एवं द्वारका-वैभव-वर्णन (८.२५), रामदूत लक्ष्मण-सुग्रीव संवाद तथा जरासंधदूत पुरुषोत्तम-श्रीकृष्ण संवाद (सर्ग १०), लक्ष्मण द्वारा कोटि-शिला-उद्धरण व श्रीकृष्ण द्वारा कोटि-शिला-उद्धरण(१२. ३९), रामदूत हनुमान-रावण संवाद तथा श्रीकृष्णदूत श्रीशैल-जरासंध संवाद (१३. १५), राम-रावण युद्ध तथा श्रीकृष्ण-जरासंध युद्ध (सर्ग १६), लक्ष्मण पर शक्ति-प्रहार एवं श्रीकृष्ण पर शक्ति-प्रहार (१७.१६-१७), रावण-वध तथा जरासन्ध वध (१८.९८-९९), विभीषण को राज्य-प्राप्ति तथा युधिष्ठिर आदि को राज्य-प्राप्ति (१९.१०९) तथा राम का राज्याभिषेक व कृष्ण का राज्याभिषेक (१८.१३३)।

(ख) विशेषण-विशेष्यता (विशेषण-विशेष्ययोः)

सन्धान-विधि की द्वितीय विशेषता यह है कि काव्य में प्रयुक्त कतिपय शब्द दोनों कथानकों के सन्दर्भ में परस्पर विशेषण-विशेष्य भाव से नियोजित होते हैं। द्विसन्धान-महाकाव्य में विशेषण-विशेष्यभाव से शब्दों का नियोजन इस प्रकार

किया गया है कि रामायण के पात्रों के नाम महाभारत के पात्रों के विशेषण बन गये हैं एवं महाभारत के पात्रों के नाम रामायण के पात्रों के। उदाहरणत: रामायण की पात्र सुमित्रा का अर्थ महाभारत के सन्दर्भ में अच्छे मित्रों या बन्धु बान्धवों वाली हो जाएगा।[१] इसी प्रकार महाभारत का दु:शासन रामायण के सन्दर्भ में नियन्त्रण करने के लिये कठोर हो जाएगा।[२] पात्रों की ही नहीं विशेष स्थानों की भी यही स्थिति है। यथा—रामायण की अयोध्या महाभारत के सन्दर्भ में **परैर्योद्धुमशक्या** अर्थात् शत्रुओं के आक्रमण से दूर अर्थ वाली हो जाएगी।[३] इसी प्रकार महाभारतीय सन्दर्भ में प्रयुक्त जरासन्ध की राजधानी **राजगृह** रामायण पक्ष में राजमहल अर्थ वाली हो जाएगी।[४] विशेषण-विशेष्य भाव के वैशिष्ट्य से गुम्फित कुछ अन्य उल्लेखनीय अभिधान इस प्रकार हैं—

अजातशत्रु (१.८), किरीटिन् (१.१७), पाण्डु (२.१), कौशल्या (२.३२), भीम (३.२८), लक्ष्मण तथा सहदेव (३.२९), शत्रुघ्न (३.३०) द्रोण (३.३५), धृतराष्ट्र (४.३३), सीता (४.३७), कीचक (५.३), जरासन्ध (७.२१), दुर्योधन (७.२६), खर-दूषण (७.६३), द्वारका (८.२५), विभीषण, कुम्भकर्ण तथा इन्द्रजित (८.५१) हृषिकेश (८.५८), सुग्रीव (९.१४), तारा (९.२०), साहसगति (९.४१), कल्याणी व सुभद्रा (९.५२), गन्धमादन (१०.१७), श्रीराम व माधव (११.२९), भीष्म (११.३५), श्रीशैल (१३.१), दशानन (१३.३०), श्रीपार्थ (१४.१), कृष्ण (१४.६), कुन्ती (१४.७), दुर्मर्षण (१६.१३), जयद्रथ (१६.१५), भूरिश्रवस् तथा कृतवर्मन् (१६.१६), उग्रसेन (१६.३७), द्रुपद (१६.३८), वैरोचन (१६.३९), अर्जुन (१७.२४) मारुत (१७.३६), भरत (१७.३७), विशल्या (१७.४०) तथा द्वारवती (१८.१३०)।

(ग) उपमान-उपमेयता (उपमान-उपमेययो:)

इस सन्धान विधि की प्रक्रिया के अनुरूप द्विसन्धान-महाकाव्य में रामायण के पात्रों के नाम महाभारत के पात्रों के अनेक बार उपमान बन जाते हैं, फलत: रामायण के पात्रों के नाम उपमेय बन जाते हैं। इससे विपरीत यदि रामायण के नाम महाभारत के पात्रों के उपमान बनते हैं, तो रामायण के नाम उपमेय बन जाते हैं। इसको

---

१. द्विस., ३.२९
२. वही, १६.१२
३. वही, १.१०
४. वही, १६.४

विशेषण-विशेष्य भाव के अन्तर्गत भी माना जा सकता है, किन्तु उपमा के कारण पृथक् परिगणित किया गया प्रतीत होता है। उदाहरणतया महाभारतीय कथनाक का पात्र **सहदेव** रामायण पक्ष में 'सह देव चर्यः' के रूप में प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ है 'सह सार्द्धं देवानामिव चर्यया गत्या वर्तमानः'[१]। इसी प्रकार रामायण पक्ष में प्रयुक्त **सागरावर्त** एक धनुर्धर का नाम महाभारत में उपमान रूप में इस प्रकार से प्रयुक्त हुआ है—'सागरस्य समुद्रस्य आवर्त्ता इव पयसां भ्रमा इव आवर्त्ता यस्य तत्' अथवा 'सगरो नाम चक्रवर्ती सगरस्येदं सागरं धनुः सागरस्येवावर्त्ता यस्य तत्'।[२]

(घ) पदार्थ वैविध्य (पदैश्च नानार्थैः)

संस्कृत भाषा 'अर्थगौरव' के लिए जगत् प्रसिद्ध है। इस भाषा में एक ही उक्ति से अनेक अर्थों की अभिव्यक्ति हो सकती है तथा एक ही शब्द, क्रिया या संज्ञा होते हुए भी विभिन्न अर्थ रखता है, जिनका निश्चय सन्दर्भानुसार ही हो सकता है। संस्कृत शब्दकोशों में पर्याय शब्दों की बहुलता भी द्व्यर्थी काव्य-रचना में अत्यन्त सहायक सिद्ध हुई है। एक ही पद के अनेक अर्थ सम्भव हैं, यथा-मेदिनीकोश में **हरि** शब्द के बारह अर्थ दिये गये हैं—

हरिश्चन्द्रार्कवाताश्वशुकमैक्यमाहिषु।
कर्पा सिंहे हरेऽर्जेऽर्शा शुक्रे लोकान्तरे पुमान्॥[३]

प्रकरणानुसार अर्थ लेना संस्कृत कवियों के लिये सहज भी था, क्योंकि वे व्याकरणनिष्णात होते थे। यह विधि प्रायः सन्धान-काव्यों में अत्यधिक अपनायी जाती है, द्विसन्धान में भी इसके उदाहरण कम नहीं है। जैसे महाभारतपक्षीय **भीमेन** का रामायणपक्ष में 'भयङ्करेण' अर्थ होगा।[४] रामायण-पक्ष में प्रयुक्त **हरिचन्दनदेहः** अर्थात् 'हरिचन्दनाख्यस्य देहःशरीरम्' महाभारत में 'हरेश्चन्दनोपलक्षितो देहः' अर्थ में नियोजित होगा।[५]

---

१. द्विस., ३.२९ तथा इस पर नेमिचन्द्र कृत पदकौमुदी टीका
२. वही, ६.२३ तथा इस पर नेमिचन्द्र कृत पदकौमुदी टीका
३. मेदिनी कोश, २७.९९
४. द्विस., ५.३२
५. वही, १०.१६

(ङ) वक्रोक्ति-भङ्ग (वक्रोक्ति-भङ्गिभिः)

संस्कृत भाषा की संश्लेषणता अर्थात् व्याकरण की सहायता से सन्धिविच्छेद, समास और विभिन्न धातुओं और शब्दों के एक समान रूपों का योग तथा व्याकरण की प्रक्रिया से बहुत से शब्दों के नये अर्थों को प्राप्त कर सन्धान-विधि और अधिक प्रभावी रूप दिखाने में समर्थ हुई। द्विसन्धान में भी इस प्रकार के अनेक प्रयोग देखने में आते हैं, जिनमें समस्त पदों का विभिन्न प्रकार से विग्रह करके इच्छानुसार अर्थ किया जा सकता है। यथा—

(१) सालङ्कृतिलक्ष्मणान्विता—कवि धनञ्जय द्वारा महाभारत के पक्ष में इस पद का 'सा अलंकृतिरलंकारो लक्ष्म लक्षणं व्याकरणम्। अलंकृतिश्च लक्ष्म चालंकृतिलक्ष्म। अत्र समाहारस्याश्रयणादेकत्वं तेनान्विता' विग्रह किया गया है, जबकि रामायण-पक्ष में 'साभरणेन सौमित्रिणा युक्तेति' किया गया है।[१]

(२) अजातशत्रुप्रमुखैः —महाभारत पक्ष में पद का 'युधिष्ठिरप्रमुखैः' अर्थ है, किन्तु रामायण पक्ष में 'न जाता शत्रवः प्रमुखाः संमुखा येषां तैः' विग्रह कर 'जिसके सम्मुख शत्रु जाने का साहस नहीं करते' अर्थ किया गया है।[२]

(३) अभवत्सदशरथोग्रविक्रमः—रामायण पक्ष में इसका 'स लोकप्रसिद्धो दशरथोऽधिपतिः स्वामी अभवत्। कीदृश अग्रविक्रमः इद्धशासनः इद्धं दीप्तमुत्कर्षं प्राप्तं शासनमाज्ञां यस्य सः' विग्रह हुआ है, जबकि महाभारत पक्ष में 'दशया तारुण्यपूर्णयाऽवस्थया सह वर्तते सदशः रथेनोग्रः सोढुमशक्यो विक्रमः प्रतापो यस्य सः सदश्चासौ रथोग्रविक्रमश्च सः' यह विग्रह हुआ है।[३]

उपर्युक्त पदों के अतिरिक्त-कैकेयेयमुपेयः (३.४०), सर्वस्वादुर्योधनेन (३.४२), द्रौपदिकानुजान्वितः (४. ३७), दशास्यनामोद्वहतः (५.६), दशकन्धरोत्थम् (५.२९), भरतान्वयस्य (५.३०), जरासन्धाभियोगजम् (७.२१), श्रीमत्सीतापक्रमतप्ता (८.१९), अरातिचारविद्रावणः (८.३४), विभीषणाभ्युन्नतकुम्भकर्णमुख्यैः (८.५१), दुर्योधनकामबाधाम् (८.५५), सत्यग्रेसरसीतापहारिणी (९.५), कंसमाहतमरिम् (१०.८), पूतनामादरमुक्तवृत्तिम्

---

१. द्विस., १.५ तथा पदकौमुदी टीका
२. वही, १.८ तथा पदकौमुदी टीका
३. वही, २.१

(१०.३६), अनूनभाजाम्बवः (११.१३), आलापरञ्जनानन्दनः (११.२२), पाण्डुराजकुलवृद्धिम् (१२.९), हिरण्यकशिपूदयपक्षपाती (१२.५२), सज्जरासन्धरयादृतस्य (१३.३०), महाभीममत्स्यध्वजौघाम् (१३.४३), गतधृतिमत्स्यदेशमाढ्यम् (१४.२३), समलयजाङ्कपयोधरोचिताभिः (१५.१), प्रभावितारातनयस्य (१६.३५), सहितजनकीयनन्दनम् (१७.३६) आदि पद भी वक्रोक्ति-भङ्ग के वैशिष्ट्य के कारण द्विसन्धान शैली को सार्थकता प्रदान कर रहे हैं।

२. यमकमूलक सन्धान-विधि

सन्धान-विधि के माध्यम से द्व्यर्थक-काव्य की सर्जना में यमक अलंकार भी एक महत्वपूर्ण घटक है। यद्यपि यमक के माध्यम से दो विभिन्न कथानक-सम्बन्धी अर्थ निष्पन्न होने असम्भव-प्राय हैं, तथापि एक ही शब्दावली से दो अर्थ देने में यमक का स्थान भी काव्यशास्त्र में पीछे नहीं है। यमक में अक्षर अथवा पदों की आवृत्ति होती है तथा आवृत्त अक्षर एवं पद से दूसरे अर्थ की निष्पत्ति होती है। श्लेष की भाँति यमक में भी पद-सन्धियाँ आदि सभी विद्वानों को अभिमत हैं। यह अलंकार, चूँकि शब्दावृत्ति प्रधान है, इसी कारणवश शब्दों की आवृत्ति कर द्वितीय अर्थ देता है। यमक अलंकार के अन्तर्गत मुख्य रूप से दो प्रकार की आवृत्ति आवश्यक मानी गयी है— (क) पदों की आवृत्ति तथा (ख) पादों की आवृत्ति।

(क) पदों की आवृत्ति

पदों की आवृत्ति को ध्यान में रखकर संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने यमक के अनेक भेद कर, उसका विशद विवेचन किया है। फलस्वरूप सन्धान-काव्य के निर्माता कवियों के लिये एक सुदृढ़ काव्यशास्त्रीय-परम्परा की स्थापना हुई। काव्यशास्त्र के विभिन्न ग्रन्थों में दिये हुए यमक की आवृत्ति के विभिन्न प्रयोगों को लक्ष्य में रखकर परीक्षण करने से यह नियम ज्ञात होता है कि यमक की आवृत्ति में किसी एक सुनिश्चित क्रम की एकरूपता का पालन होना नितान्त आवश्यक है। इस क्रमबद्धता के अतिरिक्त भिन्नार्थकता भी यमक का उपजीव्य तत्व है। द्विसन्धान-महाकाव्य में इस प्रकार के प्रयोग पर्याप्त दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरण के लिये—

धीरन्तुं गां गत्वा स यस्यामरस्य
धीरं तुङ्गाङ्गत्वाच्छ्रियो वञ्चति द्याम्।
रिक्तः स्वर्गेणाकारि मानोऽज्ञकेन
साम्यं किं सोऽस्या याति मानोज्ञकेन ॥[१]

यहाँ एक सुनिश्चित क्रम से प्रथम और द्वितीय पादों के आदि में 'धीरन्तुं गांगत्वा' पद की तथा तृतीय और चतुर्थ पादों के अन्त में 'मानोज्ञकेन' पद की आवृत्ति हुई है। यद्यपि दोनों पद आवृत्त हुए हैं, तथापि सन्धि-विग्रह आदि पूर्वक वे भिन्नार्थक हैं। 'धीरन्तुङ्गाङ्गत्त्वा' से एक स्थान पर 'रन्तुं क्रीडितुं धीः बुद्धिः—गां भूमिं गत्वा' अर्थ निकलता है, तो दूसरे स्थान पर 'धीरं निःक्षोभम्। तुङ्गाङ्गत्त्वात् स्फीतावयवत्वात्'। इसी प्रकार 'मानोज्ञकेन' से एक स्थान पर 'मानोऽभिमानः। अज्ञकेन मूढेन' तथा दूसरे स्थान पर 'मनोहरत्वेन' अर्थ निष्पन्न होता है।[२]

(ख) पादों की आवृत्ति

पदावृत्ति की भाँति यमक में एक सुनिश्चित क्रम से भिन्नार्थकता को उपजीव्य बनाकर पादों की आवृत्ति भी होती है। द्विसन्धानकार ने इस प्रकार के प्रयोग भी पर्याप्त किये हैं। यथा—

सत्यतो विभया व्यूहे समुत्पत्या महोरसा।
सत्यतो विभया व्यूहे समुत्पत्या महोरसा ॥[३]

यहाँ पूर्वार्ध की यथावत् उत्तरार्ध में आवृत्ति हुई है। किन्तु पद भिन्नार्थक हैं। आवृत्त पदों के भिन्न अर्थों को समझने के लिये सन्धिच्छेदादिपूर्वक इस पद्य को निम्न प्रकार से अन्वित किया जा सकता है– "महोरसा विभया पत्या, व्यूहे समुत्पत्य सत्यतः महोरसा, विभया, सतां समुत् आ अतः व्यूहे"। इसकी व्याख्या इस प्रकार होगी–"व्यूहे परिणीता, का? आ लक्ष्मीः, केन? पत्या स्वामिना विष्णुनेत्यर्थः, कस्मात्? अतः प्रतिविष्णुवधात्, क्व? व्यूहे रणे, कथम्भूताः? सती समीचीना, पुनः विभया विगतविधुरा, पुनः महोरसा तेजोरसा, पुनः समुत्सहर्षा, कथम्भूतेन पत्या? महोरसा विस्तीर्णवक्षसा, कया विष्णुना लक्ष्मीर्व्यूहे? विभया

---

१. द्विस., ८.२७
२. वही, ८.२७ पर पदकौमुदी टीका
३. वही, १८.१०५

विशिष्ट प्रभया प्रतापेनेत्यर्थः, किं कृत्वा? पूर्वं सत्यतः सत्यात् एनं प्रतिविष्णुं जेष्यामीति निश्चयात् व्यूहे समुत्पत्यागत्य"।[१] इस प्रकार स्पष्ट है कि 'सत्यतो' पद का एक स्थान पर 'सत्यात्' तथा दूसरे पर 'सती समीचीना -अतः प्रतिविष्णुवधात्', 'विभया' पद का 'विगतविधुरा' तथा 'विशिष्ट प्रभया', 'व्यूहे' पद का 'रणे' तथा 'परिणीता', 'समुत्पत्या' पद का 'समुत्पत्य आगत्य—आ लक्ष्मीः' तथा 'समुत् सहर्षा—पत्या स्वामिना विष्णुना' एवं इसी प्रकार 'महोरसा' पद का 'तेजोरसा' व 'विस्तीर्णवक्षसा' अर्थ निष्पन्न होते हैं।

३. चित्रालंकारमूलक सन्धान-विधि

सन्धान-विधि के लिये श्लेष तथा यमक के समान चित्रालंकारों की भूमिका भी कम महत्वपूर्ण नहीं। यहाँ तक धनञ्जय भी राम आदि अथवा युधिष्ठिर आदि राजपुत्रों द्वारा सीखी गयी युद्ध विद्या के विभिन्न विषयों में अहि-तुरग-चक्र आदि व्यूह रचना को काव्यशास्त्रीय अहि-तुरग-चक्र आदि आकार-चित्र के तुल्य बताते हैं।[२] उन्होंने चित्रालंकार की महत्ता का वर्णनमात्र ही नहीं किया है, अपितु उसका प्रयोग कर सन्धान-विधि को समृद्ध भी बनाया है। चित्रालंकारों के विभिन्न भेदों में अर्थवैभिन्न्य के क्षेत्र में 'गति-चित्र' तथा 'बन्ध-चित्र' अधिक सबल सिद्ध हुए हैं। गति-चित्र के अन्तर्गत मूलतः अनुलोम-प्रतिलोम अथवा गतप्रत्यागत शैली का प्रयोग होता है। इसी गतप्रत्यागत शैली से नये पद्य का निर्माण भी हो जाता है। स्पष्ट है कि इस प्रकार रचित नया पद्य भिन्नार्थक भी होगा। द्विसन्धान में ऐसे गति-चित्रों का निबन्धन अठारहवें सर्ग में विशेष रूप से किया गया है। उदाहरणतः—

निजतो हि धरा राधी सदा नाम रवी रुचा।

वेधसा जनितो भूयो योगे वेगनयेन सन्॥[३]

उक्त पद्य का अर्थ इस प्रकार है—'दैवरूपी प्रजापति ने अपने तेज के द्वारा सूर्य को बनाया था, जो सदैव बिना अनुपस्थिति के पृथ्वी की आराधना करता है तथा योग में स्थित उसने ही अपने नीतिप्रवाह से साधु राजा की सृष्टि की थी, जो

---

१. द्विस., १८.१०५ पर पदकौमुदी टीका
२. वही, ३.३७
३. वही, १८.१३८

अनादि काल से जगत् की व्यवस्था करता आया है'। इसी पद्य का प्रतिलोम पाठ करने पर निम्नलिखित पद्य प्रकाश में आता है—

सन्नयेन गवे गेयो यो भूतो निजसाधवे।

चारुवीरमना दास धीराराधहितोऽजनि॥[१]

इस नवनिर्मित पद्य का अर्थ इस प्रकार है— 'जो नारायण उत्कृष्ट नीति का प्रवर्तक होने के कारण समस्त उस लोक के लिये स्तुत्य है, जिसके साधु ही सगे हैं, वही नारायण सदाचारी वीर पुरुषों का स्नेही होने के कारण विष्णु के विरोधियों (रावण-जरासन्ध) का मर्दक, धीरजशाली और चक्र (आर) के धारकों का कल्याणकर्ता बन गया था'।

द्विसन्धान-महाकाव्य में गतप्रत्यागत शैली के चित्रालंकार ही नहीं बन्धचित्र से भी नये पद्य का निर्माण कर, उसमें भिन्नार्थ की योजना की गयी है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित 'गोमूत्रिकागर्भश्लोक' दर्शनीय है—

योऽपि ना हनुमानाजेर्जुष्टो भेरिरवो गीतः।

नोऽरुजे तीर्थनीत्याथोऽसौ सहायकमस्तुत॥[२]

इस पद्य का अर्थ इस प्रकार है— 'युद्ध में तल्लीन, भेरियों के समान गरजता तथा पंचांग मन्त्रणा के द्वारा हमारी विपत्तियों का परिहारक जो यह हनुमान नाम का महापुरुष है उसने भी अपने सहायकों की प्रशंसा की थी (महाभारत पक्ष में—शिखरयुक्त अर्थात् पर्वतों के स्वामी भी हनूमान के स्थान पर हो सकेगा) यही आश्चर्य है'।

उक्त पद्य में अन्तर्भूत पद्य का प्रकाशन किस प्रकार किया जाए? इस सन्दर्भ में द्विसन्धान के टीकाकार नेमिचन्द्र निम्नलिखित विधि बताते हैं— सर्वप्रथम, उक्त पद्य के सभी पाद प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ के क्रम से ऊपर-नीचे लिखे जाने चाहिएं। तत्पश्चात् वामभाग की ओर से प्रत्येक पाद के विषमाक्षरों -प्रथम, तृतीय, पंचम तथा सप्तम को ऊपर से नीचे की ओर तथा समाक्षरों—द्वितीय, चतुर्थ, षष्ठ

---

१. द्विस.,१८.१३९

२. वही,१८.६८

तथा अष्टम को नीचे से ऊपर की ओर क्रमपूर्वक पढ़ने पर इसमें गुप्त श्लोक प्रकाशित हो जाएगा।[१] इस बन्ध को निम्न विधि से चित्रित किया जा सकता है—

यो		पि	ना		ह	नु		मा	ना		जे
र्जु		ष्टो		भे		रि	र		वो	ग	ति
नो		रु		जे		ती	र्थ	नी		त्या	थो
सौ	स			हा	य		क	म		स्तु	त

उक्त पद्य को चित्रबद्ध रीति से पढ़ने पर जो पद्य आविर्भूत होता है, वह इस प्रकार है—

योऽर्जुनोऽसौ स रुष्टोऽपि नाभेजे हायतीरिह।

नुरर्थकमनीवोमा नागत्यास्तु तथोतिजे॥[२]

इस अविर्भूत पद्य का अर्थ है—'तलवार के प्रयोग से दूर जो धनुषधारी अर्जुन था, क्या उसने इस युद्ध में उज्ज्वल भविष्य की नींव नहीं डाली थी ? अपितु अवश्य डाली थी। इस प्रकार के रक्षात्मक युद्ध में थोड़े अनौचित्य के कारण पुरुष की कीर्ति क्या कमनीय उद्देश्य के लिए नहीं होती है ? अपितु होती ही है'।

द्विसन्धान शैली से प्रभावित काव्य

संस्कृत सन्धान-महाकाव्य शैली के आदि प्रवर्तक धनञ्जय के 'द्विसन्धान-महाकाव्य' की अनुवृत्ति पर परवर्ती काल में अनेक सन्धानात्मक महाकाव्य लिखे गये। सन्धान शैली के विभिन्न महाकाव्यों में द्व्यर्थक सन्धान-महाकाव्य विशेष लोकप्रिय रहे हैं। द्विसन्धान पद्धति के कुछ प्रमुख महाकाव्यों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. नेमिनाथचरित

इस महाकाव्य में ऋषभदेव तथा नेमिनाथ के जीवनचरित को व्यक्त किया गया है। इसकी रचना धारा-नरेश भोज के काल (१०३३ ई.) में द्रोणाचार्य के शिष्य सूराचार्य ने संस्कृत में की थी।[३]

---

१. द्विस., १८.६८ पर पदकौमुदी टीका, पृ. ३६६
२. वही, १८.६९
३. जिनरत्नकोश, पृ. २१६

२. रामपालचरित

इस महाकाव्य की रचना सन्ध्याकरनन्दि ने की थी। इसके प्रत्येक पद्य के दो अर्थों में से एक नायक-राम से सम्बद्ध है तथा दूसरा रामपाल से। राजा रामपाल ग्याहरवीं शती में बंगाल के शासक थे।[१]

३. नाभेय-नेमिकाव्य

यह महाकाव्य मुनिचन्द्र सूरि के प्रशिष्य तथा अजितदेव सूरि के शिष्य हेमचन्द्र सूरि (लगभग बारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ) की रचना है। यह स्वोपज्ञ टीका से युक्त है। सिद्धराज तथा कुमारपाल राजाओं के समकालीन कवि श्रीपाल ने इसका संशोधन किया था। इसमें ऋषभदेव तथा नेमिनाथ के चरित्र का वर्णन है।[२]

४. राघवपाण्डवीयम्

यह कविराज कृत द्विसन्धान शैली का महाकाव्य है। कविराज को माधवभट्ट, सूरि या पण्डित नामों से भी जाना जाता है। राघवपाण्डवीयम् में रामायण तथा महाभारत की कथाओं का एकसाथ ग्रथन किया गया है। जयन्तीपुर के कदम्बंवशीय राजा कामदेव (११८३-९७ई.) कविराज के आश्रयदाता थे, उनकी प्रशंसा उन्होंने खुलकर की है। उन्होंने कामदेव की तुलना धाराधीश मुंज (९७३-९५ ई.) से की है।[३]

५. राघवनैषधीयम्

यह कवि हरदत्त (१८वीं शताब्दी) की रचना है। इसके प्रत्येक पद्य के दो अर्थ किये जा सकते हैं—एक राम से सम्बन्धित तथा दूसरा नल से।[४]

---

१. विन्टरनित्ज़, एम.: हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, भाग ३, खण्ड १, पृ.८२

२. उपाध्ये, ए.एन.: द्विसन्धान-महाकाव्य का प्रधान-सम्पादकीय, पृ.२० तथा जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग ८, किरण १, पृ.२३

३. उपाध्ये, ए. एन.: द्विसन्धान महाकाव्य का प्रधान सम्पादकीय, पृ.२०

४. कृष्णमाचारियर, एम.: हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, दिल्ली, १९७४, पृ. १९४, काव्यमाला सिरीज़- ५७, निर्णयसागर प्रैस, बम्बई, १९२६ में प्रकाशित

६. यादवराघवीयम्

इसकी रचना वेंकटाध्वरिन् (१७वीं शताब्दी का प्रारम्भ) ने की है। यह गतप्रत्यागत शैली का द्विसन्धानकाव्य है। इसके प्रत्येक पद्य को एक ओर से पढ़ने पर रामायण की कथा तथा प्रतिलोम पाठ करने पर भागवत कथा अभिव्यक्त होती है।[१]

७. पार्वतीरुक्मिणीयम्

इस काव्य में शिव तथा पार्वती, कृष्ण और रुक्मिणी की विवाह-कथाएं अभिनिबद्ध हैं। यह विद्यामाधव की रचना है। वह चालुक्य राजा सोमदेव (११२६-११३८ ई.) का आश्रित कवि था। यह सोमदेव सम्भवत: कल्याण का सोमेश्वर चतुर्थ ही था।[२]

८. राघवयादवीयम्

सोमेश्वर (लगभग १५२४ ई.) कृत इस महाकाव्य में राम और कृष्ण की कथाएं उपनिबद्ध हैं । १५ सर्ग के इस काव्य में कालिदास तथा भारवि के उन पदों का प्रयोग किया गया है, जिनका चयन अमरकोश के लिये भी हुआ है।[३]

९. नल-हरिश्चन्द्रीयम्

यह महाकाव्य किसी अज्ञातनामा कवि की गतप्रत्यागत शैली की रचना है। इसको एक ओर से पढ़ने पर नल-कथा तथा विपरीत क्रम से पढ़ने पर हरिश्चन्द्र की कथा निकलती है।[४]

१०. हरिश्चन्द्रोदय

यह अनन्तसूरि कृत २० सर्ग का महाकाव्य है। इसमें पौराणिक राजा हरिश्चन्द्र तथा कवि के आश्रयदाता राजा हरिश्चन्द्र के चरित उपनिबद्ध हैं।[५]

इस प्रकार द्विसन्धान-महाकाव्य द्वारा रामायण एवं महाभारत की कथा को आधार बनाकर महाकाव्य लिखने का प्रयोग परवर्ती काल में बहुत लोकप्रिय होता

---

१. कृष्णमाचारियर, एम.: हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ.१९०
२. वही
३. वही, पृ.१९१
४. वही, पृ.१९४
५. वही

चला गया। कवियों ने किन्हीं दो पौराणिक अथवा ऐतिहासिक कथाओं को आधार बनाकर भी अनेक चरित काव्यों का सृजन किया।

निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत भाषा की अनेकार्थक प्रवृत्तियाँ सन्धान-काव्य का मूल हैं। धनञ्जय ने सर्वप्रथम द्विसन्धान-महाकाव्य का प्रणयन कर एक ऐसा अभूतपूर्व काव्य प्रयोग किया है जो सहृदयों के साथ-साथ समीक्षकों को भी आश्चर्यचकित कर देता है। काव्य के युगीन मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में द्विसन्धान-महाकाव्य रामायण एवं महाभारत जैसी लोकप्रसिद्ध कथाओं को अपने महाकाव्य की आधार कथा के रूप में चुनता है। रामकथा तथा पाण्डवकथा के जाल से बुने इस महाकाव्य के कलेवर में वे सभी वर्ण्य-विषय समाविष्ट कर लिये गये हैं जिनकी एक महाकाव्य में आवश्यक रूप से अनिवार्यता होती है। तत्कालीन काव्यशास्त्र की मर्यादाओं के अन्तर्गत द्विसन्धान-महाकाव्य का इतिवृत्त कृत्रिम होने के बाद भी काव्य-चातुरी की स्वाभाविकताओं से युक्त है। रामकथा और पाण्डवकथा के विविध कथानकीय आयाम काव्य के सन्धानात्मक प्रयोग वैचित्र्य से समानान्तर हो जाते हैं। निश्चित रूप से यह काव्य-चमत्कार का अद्‌भुत प्रयोग है। परन्तु इस चमत्कारपूर्ण काव्य-प्रयोग के लिये कवि को कितना प्रयास करना पड़ा होगा उसका सहज में अनुमान लगाना भी कठिन है। दोनों समानान्तर कथानकों को एकसाथ समेटने में जन्म, विवाह, वनगमन आदि की घटनाओं को जहाँ एकसाथ वर्णित करके कार्य साधा गया है वहाँ दूसरी ओर कवि ने विशेषण-विशेष्य भाव से तथा उपमान-उपमेय भाव से भी शब्द प्रयोग करते हुए सन्धान-काव्य को सार्थकता प्रदान की है।

अलंकार-विन्यास विशेषकर श्लेष आदि शब्दालंकारों का औचित्य किस सीमा तक हो सकता है द्विसन्धान-महाकाव्य उसका एक निदर्शन है। यमक, चित्रालंकार आदि अलंकारों के शास्त्रीय भेद-प्रभेदों की जितनी भी काव्यशास्त्रीय संभावनाएं संभव हैं, कवि धनञ्जय ने उनका भरपूर लाभ उठाते हुए सन्धानात्मक काव्यविधा को दिशा-निर्देशक आयामों से संजोया है। इन्हीं अनेक विशेषताओं एवं चमत्कारपूर्ण अलंकार-योजनाओं से परिपुष्ट सन्धान-काव्य शैली परवर्ती कवियों के लिये अत्यधिक प्रेरणादायक सिद्ध हुई है। जिसके परिणामस्वरूप धनञ्जय को सन्धान-काव्य का पिता कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी।

चतुर्थ अध्याय

द्विसन्धान का महाकाव्यत्व

पिछले अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है कि द्विसन्धान-महाकाव्य के कर्ता धनञ्जय ने संस्कृत भाषा की नानार्थक प्रवृत्तियों से लाभ उठाकर संस्कृत सन्धान शैली का मार्ग प्रशस्त किया। इस शैली का विन्यास युगानुसारी काव्य-मूल्यों से भी बहुत कुछ प्रभावित रहा है। सामन्तवादी काव्य-मूल्यों की अपेक्षा से महाकाव्यों में शृङ्गारिक भोग-विलास एवं कृत्रिम अलंकार-प्रदर्शन को प्रधानता दी जाने लगी थी। इसी प्रकार युद्ध-वर्णन एवं अस्त्र-शस्त्र प्रयोग सम्बन्धी गतिविधियों को विशेष प्रोत्साहित किया जा रहा था। रामायण एवं महाभारत दोनों से सम्बद्ध कथावस्तु में इन सभी युगीन मूल्यों को आत्मसात करने की पूर्ण योग्यता थी। इसलिए द्विसन्धानकार ने इन दोनों महाकाव्यों की कथावस्तु को आधार बनाया तथा तत्कालीन युगीन आवश्यकताओं के अनुरूप 'द्विसन्धान' को एक महाकाव्य के रूप में उपनिबद्ध किया। सिद्धान्ततः सन्धान-काव्य-परम्परा शब्द-क्रीडा एवं काव्य के कृत्रिम मूल्यों को प्रश्रय देने वाली काव्य-चेतना की चरम परिणति है। संस्कृत काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने इसके शिल्प-वैधानिक स्वरूप-निर्धारण के प्रति भी गहन रुचि प्रकट की है। संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने सन्धान-विधा में काव्यतत्त्वों का समावेश आवश्यक माना है। धनञ्जय स्वयं भी सन्धान-काव्य में काव्योचित गुणों को आवश्यक मानते हुए कहते हैं—'चित्त के लिये आकर्षक तथा क्रमानुसार विकसित, फलतः नवीन शृंगार आदि रसों, शब्दालंकार और अर्थालंकारों से युक्त सुन्दर वर्णों द्वारा गुम्फित रचना प्राचीन होने पर भी आनन्दप्रद होती है। उपजाति आदि छन्द रहते हैं, पद-वाक्य-विन्यास भी पूर्व-परम्परागत होता है, गद्यपद्यमय ही आकार रहता है और सब-के-सब वही पुराने अलंकार-नियम रहते हैं, तो भी केवल अक्षरों के विन्यास को बदल देने से ही रचना सुन्दर हो जाती है। जो वाणी

अर्थयुक्त, माधुर्यादि गुणों से समन्वित, अलंकार-शास्त्र और व्याकरण के नियमों से युक्त होती है, वही सज्जनों को प्रमुदित करती है'।[१] धनञ्जय ने सन्धान-काव्य में काव्योचित गुणों को आवश्यक मानकर उनका प्रयोग भी किया है, इसीलिए अपने काव्य को 'द्विसन्धान-महाकाव्य' संज्ञा से अभिहित किया है।

द्विसन्धान-महाकाव्य का महाकाव्यत्व

काव्य के विविध रूपों में महाकाव्य का स्थान सर्वोपरि है। 'महत्' विशेषण के योग से काव्य (महाकाव्य) की व्यापकता की परिधि अत्यन्त विस्तृत हो जाती है, जो महाकाव्य की महत्ता की द्योतक है। महाकाव्य में अन्य काव्यांगों की अपेक्षा जीवन को अधिक विस्तृत फलक पर चित्रित किया जाता है। वह जीवन के समग्र रूप की अभिव्यक्ति करता है। उसमें जातीय जीवन विविध रूपों में प्रकट होता है। विशाल कथा-पट पर भावनाओं के अनेक रंग भरे जाते हैं। महाकाव्य का माध्यम अपेक्षाकृत अधिक बृहत् होने के कारण उसमें जीवन का सर्वांगीण रूप अभिव्यक्त होता है और समस्त मानवता, समाज, संस्कृति, प्रकृति और चरित्र के विविध प्रकार उसमें मूर्त होते हैं। विस्तृत परिधि में महाकाव्य प्रमुख पात्रों के साथ अनेक गौण और सहायक पात्रों के चरित्र का विश्लेषण भी प्रस्तुत करता है। मानव जीवन के अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों ही महाकाव्य में प्रतिबिम्बित होते हैं।

महाकाव्य चाहे किसी युग में भी लिखे गये हों, उन्होंने युग-चेतना के स्वर को उभार कर प्रस्तुत किया है। इस प्रकार सामाजिक चेतना के प्रति समर्पित महाकाव्य-विधा पुरातन और नवीन समाजधर्मी मूल्यों को अपने कलेवर में समेटती आयी है। भारतीय साहित्य के इतिहास में एक ओर नवीनातिनवीन महाकाव्य लिखे गये और दूसरी ओर उसकी नवीन परिभाषाएं बनती रहीं। काव्यशास्त्रियों ने महाकाव्य-लक्षण निर्धारित करते समय अपने समक्ष किसी-न-किसी महाकाव्य को आदर्श रखा। ये लक्षण उस काल के महाकाव्यों के लिये तो मान्य रहे, किन्तु

---

१. 'चिरन्तने वस्तुनि गच्छति स्पृहां विभाव्यमानोऽभिनवैर्नवप्रियः।
रसान्तरैश्चित्तहरैर्जनोऽन्धसि प्रयोगरम्यैरुपदंशकैरिव॥
स जातिमार्गो रचना च साऽऽकृतिस्तदेव सूत्रं सकलं पुरातनम्।
विवर्त्तिता केवलमक्षरैः कृतिर्न कञ्चुकश्रीरिव वर्ण्यमृच्छति॥
कवेरपार्थामधुरा न भारती कथेव कर्णान्तमुपैति भारती।
तनोति सालङ्कृतिलक्ष्मणान्विता सतां मुदं दाशरथेर्यथा तनुः॥', द्विस., १.३-५

परवर्ती परम्परा-मुक्त नवीन महाकाव्यों लिये वे अयोग्य सिद्ध हो गये। स्थिर मानदण्ड अपर्याप्त सिद्ध होते गये। यद्यपि संस्कृत के प्राचीन साहित्याचार्यों ने अपने लक्षण-ग्रन्थों में महाकाव्य का स्वरूप स्थिर रखने की चेष्टा की है, तथापि महाकाव्य की सर्वमान्य परिभाषा नहीं बन सकी।

संस्कृत काव्यशास्त्र में महाकाव्य का वर्णन सर्वप्रथम भामह[१] ने किया है। तदुपरान्त दण्डी[२] ,रुद्रट[३], आनन्दवर्धन[४], कुन्तक[५], भोज[६], वाग्भट[७] , हेमचन्द्र[८], अमरचन्द्र सूरि[९] तथा विश्वनाथ[१०] ने इसका स्वरूप-विवेचन किया। द्विसन्धान-महाकाव्य के लेखक का अपने से पूर्ववर्ती—भामह, दण्डी तथा रुद्रट प्रभृतिकाव्य शास्त्रियों से प्रभावित होना स्वाभाविक ही है। किन्तु लक्षण-ग्रन्थों की रचना में कोई-न-कोई लक्ष्य-ग्रन्थ आदर्श रूप में स्वीकार किया जाता रहा है, इसलिए द्विसन्धान-महाकाव्य के महाकाव्यत्व की समीक्षा करते समय परवर्ती काव्यशास्त्रियों के महाकाव्य-लक्षणों का उल्लेख भी यत्र-तत्र किया गया है। इस प्रकार 'द्विसन्धान-महाकाव्य' के महाकाव्यत्व की परीक्षा निम्न प्रकार से की जा सकती है—

१. सर्गबद्धता

सामान्यतः महाकाव्य सर्गबद्ध होना चाहिए।[११] दण्डी के मतानुसार सर्ग न अधिक लम्बे और न अधिक छोटे होने चाहिएं।[१२] कुछ विद्वानों ने दण्डी के

---

१. का.भा.,१.१९-२३
२. काव्या.,१.१४-१९
३. का.रु.,१६.२-१९
४. ध्वन्या.,३.१०-१४
५. वक्रोक्ति.,४.१६-२६
६. सरस्वती.,५.१२६-३७
७. का.वा.,पृ.१५
८. का.हे.,८६
९. का.कल्प.,१.४५-९४
१०. सा.द.,६.३१५-२८
११. का.भा.,१.१९,काव्या.,१.१४,का.रु.,१६.१९
१२. 'सर्गैरनतिविस्तीर्णैः —',काव्या.,१.१८

सर्गैरनतिविस्तीर्णैः पद की व्याख्या करते हुए कहा है कि प्रत्येक सर्ग में तीस से अन्यून तथा दौ सो से अनधिक पद्य हों।[१] परम्परानुकूल 'द्विसन्धान-महाकाव्य' सर्गबद्ध है। इसके विभिन्न सर्गों में क्रमशः ५०, ३४, ४३, ५५, ६९, ५२, ९५, ५८, ५२, ४६, ४१, ५२, ४४, ३९, ५०, ८७, ९१, १४६ (कुल ११०४) पद्य हैं। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन को दृष्टि में रखते हुए इसके सभी सर्ग न तो अधिक लम्बे, न ही अधिक छोटे कहे जा सकते हैं।

परवर्ती काव्यशास्त्रियों में विश्वनाथ ने सर्गों की संख्या और उनके नामकरण पर भी विचार किया है। उनके अनुसार महाकाव्य में कम-से-कम आठ सर्ग होने चाहिएं और सभी सर्गों का नामकरण उनमें वर्णित कथा के आधार पर होना चाहिए।[२] 'द्विसन्धान महाकाव्य' अठारह सर्गों का महाकाव्य है और इसके प्रत्येक सर्ग का नामकरण उसमें वर्णित कथा के आधार पर किया गया है।[३]

२. कथानक

महाकाव्य का कथानक असंक्षिप्त अर्थात् विशाल होना चाहिए।[४] अत्यन्त संक्षेप में वर्णित वस्तु रुचिकर नहीं होती।[५] इसी कारणवश काव्यशास्त्रियों ने महाकाव्य का कथानक असंक्षिप्त होने पर बल दिया। एतदनुसार द्विसन्धान-महाकाव्य में सन्धान-विधा के माध्यम से राघव-पाण्डव कथा का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

---

१. काव्या., १.१८ पर रामचन्द्र मिश्र कृत 'प्रकाश' हिन्दी व्याख्या, पृ. २१

२. 'सर्गा अष्टाधिका इह।' सा.द., ६.३२० तथा
'सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु।' वही ६.३२५

३. प्रस्तुत ग्रन्थ, अध्याय ३

४. का.भा., १.१९ तथा काव्या., १.१८

५. अतिसंक्षिप्तम्-अतिसंक्षेपवर्णितं हि वस्तु न स्वदते, यथा—
'वसुदेवात्समुत्पद्य पूतनां विनिपात्य च।
कंसं हत्वा द्वारकायामुषित्वा स्वर्गतो हरिः'इति कृष्णकथानकं न रोचते।
काव्या., १.१८ पर रामचन्द्र मिश्र कृत 'प्रकाश' संस्कृत व्याख्या, पृ. २१

रुद्रट महाकाव्य के कथानक का आधार 'महती घटना' को मानते हैं।[१] 'महती घटना' से अभिप्राय है—महत्वपूर्ण एवं गरिमामयी घटना।[२] विलियम रोज़ बैनिट के अनुसार 'ऐतिहासिक, दन्तकथामूलक या काल्पनिक घटना' को 'महती घटना' कहा जा सकता है।[३] रुद्रट को भी कविकल्पित या कविकल्पना से मांसल बनी ऐतिहासिक घटना 'महती घटना' के रूप में अभिमत है।[४] द्विसन्धान-महाकाव्य में इतिहास-प्रसिद्ध रामायण-महाभारत के कथा रूप अस्थिपञ्जर को धनञ्जय ने अपनी कल्पना से मांसल बनाकर कथानक के रूप में अङ्गीकार किया।[५]

३. कथानक का आधार

महाकाव्य का कथानक इतिहास और पुराण पर आधारित अथवा परम्परा की दृष्टि से प्रख्यात एवं सज्जनाश्रित होना चाहिए।[६] द्विसन्धान-महाकाव्य का कथानक रामायण-महाभारत पर आधारित है, जो कि इतिहास व पुराण दोनों श्रेणियों में आते हैं। इसके अतिरिक्त राम-कथा तथा पाण्डव-कथा प्रख्यात एवं सज्जनाश्रित भी हैं।

---

१. द्रष्टव्य-शंभूनाथसिंह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, पृ.५४, तथा श्यामशंकर दीक्षित, तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य, पृ.१५

२. द्रष्टव्य–"An epic poem is by common consent a narrative of some length and deals with events which have a certain gradure and importance..", C.M. Bowara : From Virgil to Milton, P. 1

३. द्रष्टव्य–"A poem of dramatic character dealing by means of narration with history, real or fiction, of some notable action of series of actions carried out under heroic or supernatural guidance", William Rose Benit : The Reader's Encyclopaedia, p. 345

४. का.रु.,१६.३-४

५. तुलनीय–'तेषु काव्यादिमध्ये तेऽनुत्पाद्याः, येषां पञ्जरं कथाशरीरमखिलं सर्वमितिहासादिप्रसिद्धं रामायणादिकथाप्रसिद्धं कविः स्ववाचा परिपूरयेत्', का. रु., १६.४ पर नमिसाधुविरचित टिप्पणी, पृ.१६८

६. काव्या.,१.१५

रुद्रट के अनुसार महाकाव्य का कथानक उत्पाद्य (कविकल्पनाजन्य) भी हो सकता है।[१] उनका यह भी कथन है कि 'यदि महाकाव्य का कथानक अनुत्पाद्य हो (अर्थात् इतिहास या पुराण से लिया गया हो), तो इतिहास-पुराणादि से केवल कथापञ्जर ही लेना चाहिए। शेष सभी बातें कवि को अपनी कल्पना से रक्त-मांस की भाँति उस कथापञ्जर में भरकर महाकाव्य के शरीर का सुगठित निर्माण करना चाहिए'।[२] रुद्रट का आशय यह है कि कथानक चाहे उत्पाद्य हो या अनुत्पाद्य, उसमें कल्पना का उपयोग कवि को अवश्य करना चाहिए। इस मत के अनुसार द्विसन्धान-महाकाव्य का कथानक अनुत्पाद्य है, उत्पाद्य नहीं, क्योंकि इसका कथानक इतिहास-पुराणादि (रामायण-महाभारत) से लिया गया है। इसका कथानक अनुत्पाद्य इसलिए भी है कि यह कथापंजर रूप में इतिहास-पुराणादि से भले ही लिया गया है, परन्तु धनञ्जय ने अपनी कल्पना से प्रसङ्गानुकूल अन्य बातें रक्त-मांस की भाँति उसमें समाहित कर उसे सुगठित शरीर प्रदान किया है।

४. कथानक-व्यवस्था

भामह प्रभृति काव्यशास्त्रियों द्वारा कथानक के विस्तार-संगठन तथा व्यवस्था के लिये महाकाव्य में भी नाट्य-सन्धियों की योजना का प्रतिपादन किया गया है।[३] रुद्रट कृत काव्यालंकार पर टीका करते हुए नमिसाधु तो महाकाव्य में भरतोक्त पाँच नाट्य-सन्धियों का बड़े स्पष्ट रूप से विधान करते हैं।[४] द्विसन्धान-महाकाव्य में (i) मुख, (ii) प्रतिमुख, (iii) गर्भ, (iv) विमर्श तथा (v) निर्वहण—इन पाँचों नाट्य-सन्धियों का औचित्य सिद्ध किया जा सकता है, जो इस प्रकार है—

---

१. 'तत्रोत्पाद्या येषां शरीरमुत्पादयेत्कविः सकलम्।
कल्पितयुक्तोत्पत्तिं नायकमपि कुत्रचित्कुर्यात्॥', का.रु.१६.३

२. 'पञ्जरमितिहासादिप्रसिद्धमखिलं तदेकदेशं वा।
परिपूरयेत् स्ववाचा यत्र कविस्ते त्वनुत्पाद्याः॥' वही,१६.४

३. 'मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैश्च यत्।
पञ्चभिः सन्धिभिर्युक्तं नातिव्याख्येयमृद्धिमत्॥', का.भा.,१.२०
'सर्गाभिधानि चास्मिन्नवान्तरप्रकरणानि कुर्वीत।
सन्धीनपि संश्लिष्टांस्तेषामन्योन्यसंबन्धात्॥', वही,१६.१९

४. 'तथा संधीन्मुखप्रतिमुखगर्भविमर्शनिर्वहणाख्यान्भरतोक्तान्सुश्लिष्टान्सु-
रचनान्कुर्वीत्।', वही, १६.१९ पर नमिसाधु कृत टिप्पणी, पृ.१६९

(i) मुख-सन्धि

जहाँ बीज अर्थात् प्रमुख उपाय की सम्यक्-उत्पत्ति हो और प्रसंगवश आये अनेक रस उत्पन्न हों, वह 'मुख-सन्धि' कहलाती है। यह काव्य में शरीरानुगत अर्थात् प्रारभ्भानुगत होती है।[१] द्विसन्धान-महाकाव्य में चतुर्थ सर्ग पर्यन्त 'मुख-सन्धि' है। इसमें राघवों/पाण्डवों की उत्पत्ति तथा रामचन्द्र/युधिष्ठिर के राज्याभिषेक की तैयारी से 'बीज' या प्रमुख उपाय की सम्यक् उत्पत्ति होती है। अयोध्या/ हस्तिनापुर नगरी वर्णन तथा दशरथ/पाण्डुराज शासन-वर्णन के प्रसङ्गों से नाना रसों की उत्पत्ति होती है। राम/पाण्डवों का वन-गमन 'प्रारम्भ' है। इस प्रकार शरीरानुगत या प्रारम्भानुगत होने के कारण चतुर्थ सर्ग पर्यन्त 'मुख-सन्धि' है।

(ii) प्रतिमुख-सन्धि

जहाँ दृष्ट और नष्ट की भाँति बीज का कहीं-कहीं उद्घाटन हो और वह सर्वत्र न्यस्त हो, उसे 'प्रतिमुख-सन्धि' कहते हैं।[२] द्विसन्धान-महाकाव्य के पञ्चम से सप्तम सर्ग पर्यन्त 'प्रतिमुख-सन्धि' है। शम्बुकुमार/कीचकवध तथा खर-दूषण-संहार/गोधन पर घेरे की समाप्ति आदि घटनाओं द्वारा अनुकूल वातावरण पाकर निर्विघ्न राज्य-प्राप्ति रूप फल के प्रति अभिमुख राघव/पाण्डव जन्म आदि बीज रूप कथानक उद्घाटित होता हुआ-सा प्रतीत होकर दृष्ट ज्ञात होता है, पर रावण द्वारा सीता अपहरण/शरद् ऋतु का आरम्भ आदि अवरोधक शक्ति के कारण नष्ट होता हुआ-सा प्रतीत होता है। इस प्रकार पञ्चम से सप्तम सर्ग तक सर्वत्र न्यस्त होकर मुख-सन्धि के प्रधान-लक्ष्य का किञ्चित् विकास होने के कारण 'प्रतिमुख-सन्धि' है।

---

१. 'यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा।
काव्ये शरीरानुगता सन्मुखं परिकीर्तितम्॥', ना.शा.,१६.३९

२. 'बीजस्योद्घाटनं यत्र दृष्टनष्टमिव क्वचित्।
मुखन्यस्तस्य सर्वत्र तद्वै प्रतिमुखं स्मृतम्॥', वही,१६.४०

NAGPUR UNIVERSITY

(iii) गर्भ-सन्धि

जहाँ बीज की प्राप्ति या अप्राप्ति हो और पुनः उनका अन्वेषण हो, उसे 'गर्भ-सन्धि' कहते हैं।[१] द्विसन्धान-महाकाव्य के अष्टम से एकादश सर्ग तक 'गर्भ-सन्धि' है। इसमें राम द्वारा साहसगति-पराजय/पाण्डवों द्वारा जरासन्ध-पराजय के माध्यम से राघव/पाण्डव जन्म की सार्थकता का दर्शन होना 'बीज' की प्राप्ति है। सुग्रीव का लक्ष्मण को रावण से युद्ध न करने की प्रेरणा देना, दूत द्वारा श्रीकृष्ण को जरासंध के सम्मुख समर्पण करने का सुझाव दिया जाना 'बीज' की अप्राप्ति है। सुग्रीव/श्रीकृष्ण द्वारा युद्ध का निश्चय 'बीज' का पुनः अन्वेषण है। इस प्रकार अष्टम से एकादश सर्ग तक 'गर्भ-सन्धि' है।

(iv) विमर्श-सन्धि

जहाँ किसी विलोभन अथवा क्रोध एवं व्यसन से उत्पादित बीजार्थ गर्भ से पृथक् हो जाए, उसे 'विमर्श-सन्धि' कहते हैं।[२] कुछ आचार्य इसे 'अवमर्श-सन्धि' नाम से भी अभिहित करते हैं।[३] द्विसन्धान-महाकाव्य के द्वादश से पञ्चदश सर्ग तक 'विमर्श-सन्धि' है। दूत रूप में हनुमान/श्रीशैल के राम/श्रीकृष्ण से समझौता करने के लिये कहने पर क्रोधाभिभूत रावण/जरासंघ की फटकार से तथा सेना के समुद्र-गंगा तट पर पहुँचने के अनन्तर नायक-नायिकाओं के जल-क्रीडा वर्णन से बीजार्थ पृथक्-सा हो जाता है, अतः द्वादश से पञ्चदश सर्ग पर्यन्त 'विमर्श-सन्धि' है।

(v) निर्वहण-सन्धि

क्रमशः अवस्था-चतुष्टय के द्वारा सम्पादित होने वाले उत्पत्ति, उद्घाटन, उद्भेदगर्भ ओर निर्भेद रूप बीज विकारों से जो युक्त हैं एवं अनेक प्रकार के सुख-दुःखात्मक हास, शोक, क्रोध, आदि भावों से जिनका उत्कर्ष हो गया है, ऐसे मुखादि चार सन्धियों के प्रारम्भादि अर्थों का जिसमें समानयन अर्थात् फल-निष्पत्ति

---

१. 'उद्भेदस्तस्य बीजस्य प्राप्तिरप्राप्तिरेव वा।
पुनश्चान्वेषणं यत्र स गर्भ इति संज्ञितः॥' ना. शा., १९.४१

२. 'गर्भनिर्भिन्नबीजार्थो विलोभनकृतोऽथवा।
क्रोधव्यसनजो वापि स विमर्श इति स्मृतः॥' वही, १९.४२

३. द्रष्टव्य– राजवंश सहाय 'हीरा': भारतीय साहित्यशास्त्र कोश, पृ. १३५०

में योजन हो, उसे 'निर्वहण-सन्धि' कहते हैं।[१] द्विसन्धान-महाकाव्य के षोडश से अष्टादश सर्ग पर्यन्त 'निर्वहण-सन्धि' है। इसमें उपर्युक्त चारों सन्धियों के प्रारम्भादि अर्थों का राम /श्रीकृष्ण की निर्विघ्न राज्यप्राप्ति रूप फल-निष्पत्ति में समानयन होता है, अतः षोडश से अष्टादश सर्ग तक 'निर्वहण-सन्धि' है।

५. अवान्तर-कथा योजना

रुद्रट के मतानुसार महाकाव्य में अवान्तर-कथाओं की योजना अवश्य होनी चाहिए[२], क्योंकि उनके द्वारा जीवन के गम्भीर और व्यापक अनुभवों को उपस्थित करने में सुविधा रहती है। सन्धान-विधा में रचा हुआ होने के कारण यद्यपि द्विसन्धान-महाकाव्य में अवान्तर-कथाओं के लिये अवकाश नहीं है, तथापि लेखक द्वारा कहीं-कहीं सुग्रीव-साहसगति वृत्तान्त जैसी अवान्तर-कथाओं की इसमें समुचित प्रकार से योजना की गयी है।

६. वर्ण्य-विषय

महाकाव्य में प्राकृतिक दृश्यों, जीवन के विविध व्यापारों एवं परिस्थितियों के विशद वर्णन होने चाहिएं। भामह की महाकाव्य-परिभाषा में वर्ण्य-विषयों का स्पष्ट एवं विस्तृत निर्देश उपलब्ध नहीं होता। उन्होंने मन्त्रणा, दूतप्रेषण, सेनाप्रयाण, युद्ध तथा नायकाभ्युदय आदि का ही नामोल्लेखपूर्वक परिगणन किया है।[३] किन्तु दण्डी तथा रुद्रट ने वर्णनीय-विषयों अर्थात् प्राकृतिक दृश्यों, जीवन के विविध व्यापारों एवं परिस्थितियों की विस्तृत सूची अपने-अपने महाकाव्य-लक्षण में परिगणित करायी है।[४] उनके द्वारा वर्णित विषयों में से अधिकांश का उल्लेख यद्यपि द्विसन्धान-महाकाव्य में मिल जाता है, तथापि सन्धान-विधा में रचित इस महाकाव्य के सभी वर्णन विशद नहीं कहे जा सकते। इस महाकाव्य में वर्णित वर्ण्य-विषय तीन श्रेणियों में विभाजित किये जा सकते हैं—

(क) विशद (ख) अविशद तथा (ग) नामोल्लेख।

---

१. 'समानयनमर्थनां मुखाद्यानां सबीजिनाम्।
नानाभावोत्तराणां यद्भवेन्निर्वहणं तु तत्॥', ना. शा., १९.४३

२. 'अस्मिन्नवान्तरप्रकरणानि कुर्वीत।', का. रु., १६.१९

३. 'मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैश्च यत्।', का. भा., १.२०

४. काव्या., १.१६-१७, का. रु., १६.९-१५

NAGPUR UNIVERSITY
BR. V. R. ALIAS BHAUSAHEB KOLTE LIBRARY

(क) विशद

जिन वर्ण्य-विषयों का विशद वर्णन द्विसन्धान-महाकाव्य में हुआ है, वे हैं—सूर्यास्त[१], सूर्योदय[२], चन्द्रोदय[३], रात्रि[४], सन्ध्या[५], षड्-ऋतु[६], पर्वत[७], अटवी[८], कानन[९], नगर[१०], समुद्र[११], नदी[१२], उद्यानविहार[१३], सलिलक्रीडा[१४], मधुपान[१५], रतोत्सव[१६], कुमारोत्पत्ति[१७], मन्त्रणा[१८], दूतप्रेषण[१९], सेनाप्रयाण[२०], आक्रमण[२१], युद्ध[२२] और नायकाभ्युदय[२३]।

---

१. द्विस.,१७.२१-२३
२. वही,१७.८४-९०
३. वही,१७.३९-४०
४. वही,१७.४०-४८
५. वही,१७.२५-३१
६. वही,१२.७,१.१२-२४,७.३-१७
७. वही,७.३२-३९
८. वही,७.३०-३२
९. वही,७.३७-३९
१०. वही,१.१०-५०,८.२५-२९
११. वही ८.२-१८
१२. वही ४.४२,७.३३
१३. वही,१५.१-१६
१४. वही,१५.३३-५०
१५. वही,१७.५४-६०
१६. वही,१५.१८-३२
१७. वही,३.११-१८,२८-३०
१८. वही,सर्ग ११
१९. वही,सर्ग १३
२०. वही,सर्ग १४
२१. वही
२२. वही,सर्ग १६
२३. वही,१८.९९-१०५

NAGPUR UNIVERSITY

(ख) अविशद

अविशद वर्णन वाले वर्ण्य-विषय हैं— चन्द्रास्त[१], मरुभूमि[२], देश[३], सरोवर[४], सङ्गीत-गोष्ठी[५], विप्रलम्भ[६], आक्रमण[७] और नागरिक-क्षोभ[८]।

(ग) नामोल्लेख

जिन वर्ण्य-विषयों का नामोल्लेख द्वारा वर्णन हुआ है, वे हैं—द्वीप[९], स्वर्ग(भुवन) [१०], विवाह[११] और स्कन्धावार-निवेश[१२]। इस प्रकार सिद्ध है कि द्विसन्धान-महाकाव्य के वर्ण्य-विषय महाकाव्य-लक्षणों के अनुरूप हैं।

७. अतिप्राकृत और अलौकिक तत्व

रुद्रट ने महाकाव्य में अतिप्राकृत और अलौकिक तत्वों का होना आवश्यक माना है। किन्तु, उनका साथ-ही-साथ यह भी कहना है कि महाकाव्य में अलौकिक और अतिप्राकृत कार्य मानव द्वारा सम्पादित नहीं दिखाये जाने चाहिएं। यदि ऐसा करना ही हो, तो वहाँ दिव्य शक्तियों —देवता, राक्षस, गन्धर्व, यक्ष, व्यन्तर आदि की सहायता लेनी चाहिए।[१३] द्विसन्धान-महाकाव्य में देव[१४], दैत्य[१५], राक्षस[१६],

---

१. द्विस.,१७.८९-९०
२. वही,१२.१५-१६
३. वही,४.८
४. वही,१.४७
५. वही,१.४१
६. वही,८.१९,३६,९.१-९
७. वही,सर्ग १४
८. वही,१३.११
९. वही,१२.५१
१०. वही,१०.३८,१२.३३,१६.८३-८४
११. वही,३.२६-२७
१२. वही,१४.२१
१३. का.रु.,१६.३७-३९
१४. द्विस.,४.३२,६.५०
१५. वही,५.६
१६. वही,७.६०

शलाकापुरुष[१], विद्याधर[२], किन्नर[३] आदि अतिप्राकृत शक्तियों तथा लक्ष्मण द्वारा कोटिशिला-उद्धरण[४] जैसे आलौकिक दृश्यों का चित्रण किया गया है। रुद्रट की मान्यता के अनुरूप इस महाकाव्य में अलौकिक तथा अतिप्राकृत कार्य मानव द्वारा सम्पादित न दिखाकर देवता, गन्धर्व, राक्षस आदि द्वारा सम्पादित दिखाये गये हैं। उदाहरणत: आकाशमार्ग से सीता का अपहरण करके भागना विद्याधरों के राजा या राक्षसराज रावण द्वारा सम्पादित दिखाया गया है।[५] इसी प्रकार कोटिशिला का उद्धरण शलाकापुरुष अथवा परमपुरुष आठवें विष्णु लक्ष्मण द्वारा किया गया है।[६]

८. आरम्भ

महाकाव्य का आरम्भ किस प्रकार किया जाए—इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम दण्डी ने विचार किया है। उनके अनुसार महाकाव्य के आदि में आशीर्वचन, नमस्क्रिया तथा वस्तुनिर्देश का निर्देश होना चाहिए।[७] द्विसन्धान-महाकाव्य का आरम्भ आशीर्वचन, नमस्क्रिया तथा वस्तुनिर्देश के निर्देश द्वारा ही हुआ है। प्रथम सर्ग के सर्वप्रथम पद्य में पाठकों के प्रति शुभेच्छा के प्राकट्य द्वारा आशीर्वचन का, द्वितीय पद्य में सर्वज्ञ की वाणी (दिव्य-ध्वनि) सरस्वती सम वनदेवी के प्रति नमस्क्रिया का, तदनन्तर तृतीय से अष्टम पद्य पर्यन्त वस्तु-निर्देश का निर्देश किया गया है।

रुद्रट महाकाव्य के आरम्भ में सन्नगरी-वर्णन तथा नायक के वंश की प्रशंसा आवश्यक समझते हैं।[८] द्विसन्धान-महाकाव्य के आरम्भ में सन्नगरी-वर्णन तथा नायक के वंश की प्रशंसा—दोनों तत्व दृष्टिगोचर होते हैं। इसके प्रथम सर्ग में

---

१. द्विस.,१.८
२. वही,१४७
३. वही,१.१०,७.५
४. वही,सर्ग १२
५. वही,७.९३
६. वही,सर्ग १२
७. 'आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वाऽपि तन्मुखम् ॥',काव्या.,१.१४
८. तत्रोत्पाद्ये पूर्वं सन्नगरीवर्णनं महाकाव्ये।
कुर्वीत तदनु तस्यां नायकवंशप्रशंसा च ॥', का.रु.,१६.७

हस्तिनापुर/अयोध्या नगरी का वर्णन तथा द्वितीय सर्ग में पाण्डव/राघव वंश की प्रशंसा हुई है।

९. अन्त या समाप्ति

महाकाव्य के अन्त के सम्बन्ध में रुद्रट का मत है कि नायक का अभ्युदय दिखाकर महाकाव्य की समाप्ति कर देनी चाहिए।[१] इस मन्तव्य के अनुरूप द्विसन्धान-महाकाव्य की समाप्ति राम/श्रीकृष्ण को निष्कण्टक राज्यप्राप्ति से होती है।[२]

धनञ्जय के उत्तरवर्ती हेमचन्द्र ने महाकाव्य-समाप्ति पर विस्तारपूर्वक चिन्तन किया है। उनका कथन है कि महाकाव्य के अन्त में कवि को अपना उद्देश्य प्रकट करना चाहिए, अपना तथा अपने इष्टदेव का नाम व्यक्त करना चाहिए और मङ्गलवाची शब्दों का प्रयोग करके महाकाव्य की समाप्ति करनी चाहिए।[३] स्पष्ट है हेमचन्द्र ने जैन-महाकाव्यों को देखकर ही यह नियम निर्धारित किया है। जैन महाकाव्यों में ग्रन्थ के अन्त में कवि-परिचय गुरु-परम्परा आदि का वर्णन मिलता है। द्विसन्धान-महाकाव्य भी इसका अपवाद नहीं है। इसके अन्तिम पद्य में धनञ्जय ने अपने उद्देश्य तथा उसकी पूर्ति के विषय में स्पष्ट रूप से कहा है कि 'सन्धान-विधा में रचित द्विसन्धान-महाकाव्य के कारण धनञ्जय की स्थायी कीर्ति हुई है तथा उसकी यह कृति गाम्भीर्य, माधुर्य, प्रसाद आदि काव्य-गुणों द्वारा समुद्र की गहराई, निर्ममता आदि गुणों का भरपूर उपहास करती है'। उद्देश्य-कथन के साथ-साथ कवि ने अपना 'धनञ्जय' नाम तथा अपने माता-पिता के 'श्रीदेवी' व 'वसुदेव' नाम भी व्यक्त किये हैं। इष्टदेव के रूप में अपने गुरु 'दशरथ' के नाम का स्मरण किया है। इन तत्वों के साथ-साथ 'श्री' जैसे मङ्गलवाची शब्दों का प्रयोग करके ही इस महाकाव्य की समाप्ति की गयी है।[४]

---

१. 'कृच्छ्रेण साधु कुर्यादभ्युदयं नायकस्यान्ते ॥', वही, १६.१८

२. द्रष्टव्य -द्विस., १८.१३३-४६

३. 'स्वाभिप्रायस्वनामेष्टनाममङ्गलाङ्कितसमाप्तित्वमिति।', अलं.चू., पृ.४५७

४. 'नीत्या यो गुरुणा दिशो दशरथेनोपात्तवान्नन्दनः
श्रीदेव्या वसुदेवतः प्रतिजगन्न्यायस्य मार्गे स्थितः।
तस्य स्थायिधनञ्जयस्य कृतितः प्रादुष्यदुच्चैर्यशो
गाम्भीर्यादिगुणापनोदविधिनेवाम्भोनिधींल्लङ्घते ॥', द्विस., १८.१४६

१०. सर्ग-समाप्ति

सर्ग-समाप्ति के संदर्भ में धनञ्जय से पूर्ववर्ती साहित्यशास्त्रियों ने अपने महाकाव्य-लक्षणों में कुछ नहीं कहा, किन्तु परवर्ती आचार्यों में विश्वनाथ का कथन है कि सर्ग के अन्त में अगले सर्ग की कथा की सूचना दी जानी चाहिए[१] और वाग्भट का मत है कि प्रत्येक सर्ग का अन्तिम पद्य कवि द्वारा अभिप्रेत शब्द—श्री, लक्ष्मी आदि से अंकित रहना चाहिए।[२] द्विसन्धान-महाकाव्य में सर्ग-समाप्ति से सम्बद्ध विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित गुण नहीं, अपितु वाग्भट द्वारा प्रतिपादित गुण दिखायी देते हैं। इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि इस प्रकार की प्रवृत्ति जैन महाकाव्यों में आरम्भ हो जाने पर, जैन काव्यशास्त्री वाग्भट को इसे अपने महाकाव्य-लक्षण में भी समुचित स्थान देना पड़ा। द्विसन्धान-महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग का अन्तिम पद्य कवि के स्वाभिप्रेत शब्द 'धन' तथा 'जय' (धनञ्जय) से अंकित है। इन दो शब्दों के अतिरिक्त प्रथम से द्वादश तथा पञ्चदश से अष्टादश सर्गों तक क्रमशः विधि और विभूति[३], मङ्गल और यश[४], सुख और परमेष्ठी[५], अभ्युदय और अभिवृद्धि[६], निधि और लक्ष्मी[७], श्री[८], यश और विद्या[९], शास्त्र और प्रभु[१०], शुभा और कल्याणी[११], श्री और धी[१२], मन्त्र[१३], श्री, नारायण और सिद्ध[१४], धी[१५], श्री,

---

१. 'सर्गाऽन्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्॥', सा.द., ६.३२१
२. 'स्वाभिप्रेतवस्त्वङ्कितसर्गान्तम्', का.वा., पृ.१५
३. द्विस.१.५०
४. वही, २.४३
५. वही ३.४३
६. वही, ४.५५
७. वही, ५.६९
८. वही, ६.५२
९. वही, ७.९५
१०. वही, ८.५८
११. वही, ९.५२
१२. वही, १०.४६
१३. वही, ११.४१
१४. वही, १२.५२
१५. वही, १५.५०

लक्ष्मी और महर्द्धि[१], लक्ष्मी और हरि[२], श्री, निधि और यश[३]—शब्दों का अंकन हुआ है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि धनञ्जय ने 'चिह्नांकन' की महाकाव्यीय जैन परम्परा को विशेष योगदान दिया।

११. नामकरण

महाकाव्य के नामकरण के सम्बन्ध में विश्वनाथ को छोड़कर अन्य सभी आचार्य मौन हैं। विश्वनाथ के अनुसार महाकाव्य का नामकरण कवि, कथावस्तु अथवा चरितनायक के नाम पर होना चाहिए।[४] द्विसन्धान-महाकाव्य की कथावस्तु द्विसन्धानात्मक अर्थात् द्व्यर्थी शैली में प्रस्तुत की गयी है, इसीलिए इसका नामकरण द्विसन्धान-महाकाव्य हुआ है। इस महाकाव्य का अपरनाम 'राघवपाण्डवीय' है—यह नामकरण इसके चरितनायकों राघवों तथा पाण्डवों के नाम पर हुआ है। इस प्रकार पूर्ववर्ती महाकाव्यों के नामकरण विश्वनाथ के महाकाव्य-लक्षण में निहित नामकरण सम्बन्धी तथ्य को सत्यापित करते हैं।

१२. नायक

महाकाव्य में नायक का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। भामह महाकाव्य के नायक का कुलीन, वीर और विद्वान् होने के साथ-साथ विजयी होना भी आवश्यक मानते हैं।[५] उनके मतानुसार नायक का वध महाकाव्य में नहीं दिखाना चाहिए।[६] दण्डी को महाकाव्य में चतुरोदात्त (चतुर + धीरोदात्त) नायक अभिमत है।[७] रुद्रट का कथन है कि नायक त्रिवर्णों में से किसी एक वर्ण का, सर्वगुणसम्पन्न, शक्तिशाली,नीतिज्ञ, प्रजापालक और विजयी होना चाहिए।[८] द्विसन्धान-महाकाव्य का नायक राम/कृष्ण भामह द्वारा गिनाये नायकोचित गुणों—कुलीनता, वीरता और विद्वत्ता से सम्पन्न है। महाकाव्य में उसका वध न दिखाकर, उसे विजयी दिखाया

---

१. द्विस.,१६.८७
२. वही,१७.९१
३. वही,१८.१४६
४. 'कवेर्वृत्तस्य वा नानानायकस्येतरस्य वा ॥ नामास्य—।', सा.द.,६.३२४-२५
५. का.भा.,१.२२
६. वही
७. '.....चतुरोदात्तनायकम् ॥', काव्या.,१.१५
८. का.रु.,१६.८-९

गया है।[१] राम/कृष्ण चतुरोदात्त नायक है। रुद्रट द्वारा गिनाये नायकोचित गुणों को राम /कृष्ण में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

१३. प्रतिनायक

रुद्रट के अनुसार नायक की भाँति प्रतिनायक भी महाकाव्य में आवश्यक है।[२] उनके अनुसार प्रतिनायक के कार्य-कलाप ऐसे होने चाहिएं, जिनसे नायक की क्रोधाग्नि भड़क उठे और वह प्रतिनायक पर आक्रमण कर दे। प्रतिनायक को भी वीरतापूर्वक नायक का सामना करते हुए दिखाना चाहिए। द्विसन्धान -महाकाव्य में नायक राम/कृष्ण की भाँति प्रतिनायक रावण/जरासन्ध का भी कुशल चित्रण हुआ है। प्रतिनायक रावण द्वारा सीता का अपहरण[३] अथवा प्रतिनायक जरासन्ध का जाली पासों द्वारा द्यूतक्रीडा में कौरवों का सहयोग[४] आदि कार्य ऐसे हैं, जिनसे क्रोधित होकर नायक राम या कृष्ण प्रतिनायक रावण या जरासंध पर आक्रमण कर देता है।[५] प्रतिनायक रावण/जरासंध भी नायक राम/कृष्ण का वीरतापूर्वक सामना करता है।[६]

१४. गौण-पात्र

नायक व प्रतिनायक के अतिरिक्त महाकाव्यों में भी गौण पात्र होते हैं। भामह[७], दण्डी[८] तथा रुद्रट[९] प्रभृति काव्यशास्त्रियों ने मन्त्र-दूत-प्रयाण आदि की चर्चा आवश्यक बतायी है। अभिप्राय यह है कि महाकाव्य में मन्त्री, दूत, सैनिक, सेनापति आदि को गौण पात्र संज्ञा से अभिहित किया जाता है।[१०]

---

१. द्विस.,१८.१०५
२. 'प्रतिनायकमपि तद्वत्तदभिमुखमृष्यमाणमायान्तम्।
अभिदध्यात्कार्यवशान्नगरीरोधस्थितं वाऽपि॥', का.रु.,१६.१६
३. द्विस.,७.९०-९३
४. वही,७.२१,९०-९३
५. वही,९.७-१०
६. वही,१७.१-६
७. का.भा.,१.२०
८. काव्या.,१.१७
९. का.रु.,१६.१२
१०. श्यामशंकर दीक्षित : तेहरवीं-चौदहवीं शताब्दी के संस्कृत जैन महाकाव्य, पृ.२५

द्विसन्धान-महाकाव्य में नायक, प्रतिनायक के अतिरिक्त गौण पात्रों का भी यथास्थान विवेचन हुआ है। भामह, दण्डी और रुद्रट आदि द्वारा संकेतित मन्त्री[१], दूत[२], सैनिक[३], सेनापति[४] आदि गौण पात्रों का इस महाकाव्य में विशद चित्रण यथोचित रूप से हुआ है।

१५. रस-परिपाक

महाकाव्य के मूल-तत्वों में रस का स्थान सर्वप्रमुख है। सभी काव्यशास्त्रियों ने महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग मे रस-योजना की अनिवार्यता पर बल दिया है।[५] धनञ्जय ने इस काव्यशास्त्रीय परम्परा का अनुसरण करते हुए द्विसन्धान-महाकाव्य में सभी रसों को यथोचित रूप से निवेशित किया है।[६]

१६. अलंकार-विन्यास

भामह ने 'सालंकार'[७] तथा दण्डी ने 'सदलंकृति'[८] पदों के माध्यम से अलंकार-योजना को भी महाकाव्य के प्रमुख लक्षणों में समुचित स्थान दिया है। द्विसन्धान-महाकाव्य में अधिकांश शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों का प्रयोग हुआ है।[९] श्लिष्ट काव्य होने के कारण श्लेष तो आद्योपान्त प्रयुक्त हुआ ही है। चित्रकाव्य अथवा यमक के विभिन्न प्रयोग अष्टादश सर्ग में दृष्टिगोचर होते हैं। इस दृष्टि से तो द्विसन्धान-महाकाव्य अलंकार-प्रधान महाकाव्य है।

१७. छन्द-योजना

महाकाव्य का छन्दोबद्ध होना भी आवश्यक है। छन्द-प्रयोग के सम्बन्ध में भामह और रुद्रट मौन साधे हुए हैं। दण्डी का इस सन्दर्भ में मत है कि महाकाव्य का छन्द श्रव्य और श्रुतिमधुर होना चाहिए और सर्गान्त में उसे बदल कर भिन्न

---

१. द्विस.,११.१-२
२. वही,१३.१-३६
३. वही,१६.२१-२९
४. वही,२.२२,१६.३०
५. का.भा.,१.२१,काव्या.,१.१८,का.रु.,१६.१५
६. विशेष द्रष्टव्य– प्रस्तुत ग्रन्थ, अध्याय ५
७. का.भा.,१.१९
८. काव्या.,१.१९
९. विशेष द्रष्टव्य– प्रस्तुत ग्रन्थ, अध्याय ६

छन्द का प्रयोग करना चाहिए।[१] द्विसन्धान-महाकाव्य में श्रव्य व श्रुतिमधुर छन्दों का संयोजन हुआ है। पूर्ण सर्ग में एक छन्द को तथा सर्गान्त में बदलकर भिन्न छन्द को प्रयोग करने की प्रथा का निर्वाह सम्पूर्ण महाकाव्य में नहीं हो पाया है। प्रथम, चतुर्थ, सप्तम, नवम तथा अष्टादश सर्गों में ही इस प्रकार का प्रयोग हो पाया है।[२]

१८. भाषा

भामह महाकाव्य में आलङ्कारिक भाषा का प्रयोग उचित समझते हैं। उनको महाकाव्य में ग्राम्य-शब्दों का प्रयोग अभिमत नही है।[३] दण्डी महाकाव्य में ऐसी भाषा का प्रयोग उचित समझते हैं, जिससे महाकाव्य समस्त लोक का रञ्जन कर सके।[४] इसका अभिप्राय यह है कि महाकाव्य की भाषा सरल और बोधगम्य होनी चाहिए, तभी उससे समस्त लोक का रञ्जन हो सकेगा। द्विसन्धान-महाकाव्य द्व्यर्थी-काव्य है, अतएव भामह की मान्यता के अनुरूप इसमें आलङ्कारिक भाषा का प्रयोग करना कवि के लिये अतिसुगम हो गया है। आलङ्कारिक होने के साथ-साथ इसकी भाषा अग्राम्य शब्दावली से युक्त है। दण्डी के महाकाव्य-लक्षण के सन्दर्भ में इस महाकाव्य की समीक्षा करें तो कहा जा सकता है कि इसमें समस्तलोकरञ्जक अर्थात् सरल तथा बोधगम्य भाषा का भी प्रयोग हुआ है।[५] द्विसन्धान-महाकाव्य में अत्यधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि एक ओर तो महाकवि धनञ्जय ने समस्तलोकरञ्जक अर्थात् सरल तथा बोधगम्य भाषा का प्रयोग किया है, तो दूसरी ओर आलङ्कारिकता के नाम पर एक (अन्तिम) सर्ग में दुष्कर चित्रबन्ध की योजना भी की है। इस प्रकार के असाधारण भाषा-प्रयोग की क्षमता से प्रभावित होकर ही सम्भवत: हेमचन्द्र[६] और वाग्भट[७] प्रभृति परवर्ती

---

१. काव्या., १.१८-१९
२. विशेष द्रष्टव्य– प्रस्तुत ग्रन्थ, अध्याय ७
३. 'अग्राम्यशब्दमर्थञ्च सालंकारं सदाश्रयम्॥', का. भा., १.१९
४. काव्या., १.१९
५. द्रष्टव्य—द्विस., १५.३६-४०
६. 'दुष्करचित्रादिसर्गात्वम्', अलं. चू., पृ. ४५७
७. 'दुष्करचित्राद्येकसर्गाङ्कितम्', का. वा., पृ. १५

साहित्यशास्त्रियों ने महाकाव्य के एक सर्ग में दुष्कर चित्रबन्ध की योजना की आवश्यकता पर विशेष बल दिया ।

१९. उद्देश्य

भारतीय साहित्याचार्यों ने महाकाव्यों का उद्देश्य सामान्यत: धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थों की प्राप्ति माना है ।[१] भामह ने 'अर्थ' के निरूपण पर विशेष बल दिया है ।[२] सामान्यत: समस्त जैन महाकाव्यों का उद्देश्य 'धर्म' का प्रतिपादन कर निर्वाण अथवा मोक्ष-प्राप्ति रहा है, किन्तु द्विसन्धान-महाकाव्य की समाप्ति नायक को निर्विघ्न राज्यप्राप्ति पर हुई है । अत: कहा जा सकता है कि इस महाकाव्य का उद्देश्य अर्थ-प्राप्ति है । इसके अतिरिक्त युद्ध आदि के द्वारा अर्थ की प्राप्ति का प्रयास, प्राप्त अर्थ द्वारा सुख-भोग और अर्थ से साध्य वैभव-विलास का प्रदर्शन—ये सभी महाकाव्य के वर्णनीय विषय होते हैं । द्विसन्धान-महाकाव्य में राज्य-प्राप्ति के सन्दर्भ में ये सभी वर्णनीय विषय प्रयुक्त हुए हैं । इसी कारणवश कहा जा सकता है कि इस महाकाव्य में अर्थ रूप उद्देश्य प्रधानतया उपलक्षित होता है । तत्कालीन साहित्य-मूल्यों की अपेक्षा से भी यदि थोड़ा विचार करें तो सातवीं-आठवीं शताब्दी ई. काव्य के कृत्रिम मूल्यों से प्रभावित होती हुई युगीन सामन्तवादी साहित्य-प्रवृत्तियों से अनुरंजित हो चुकी थी । परिणामत: धन-प्राप्ति और यश-प्राप्ति कवियों का मुख्य लक्ष्य बन चुका था । कालिदास आदि कवियों के समान रसपूर्ण काव्य की इस युग में अपेक्षा नहीं की जा सकती है ।

निष्कर्ष

इस प्रकार द्विसन्धान-महाकाव्य शास्त्रीय महाकाव्य-लक्षणों की दृष्टि से एक सफल महाकाव्य है । सर्ग विभाजन, कथानक संयोजन, प्रतिपाद्य विषय, चरित्र चित्रण, रस-भाव विन्यास, छन्द-अलंकार विनियोजन आदि सभी दृष्टियों से द्विसन्धान का महाकाव्यत्व सशक्त एवं प्रभावशाली सिद्ध हुआ है । इसके महाकाव्यत्व की एक विशेषता यह भी मानी जानी चाहिए कि इसने अपने स्वयं के महाकाव्यत्व को चरितार्थ करने हेतु रामायण एवं महाभारत जैसे दो राष्ट्रीय महाकाव्यों की अनुप्रेरणा को भी अपने में समेटा है । द्विसन्धान-महाकाव्य की

---

१. का.भा.,१.२१, काव्या.,१.१५, का.रु.,१६.

२. 'चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत् ।' , का.भा.,१.२१

घटनाएं नाट्य-सन्धियों से अनुप्रेरित होकर महाकाव्य के कथानक-प्रवाह को आकर्षक एवं प्रभावशाली बनाती हैं।

युगीन मूल्यों की अनुप्रेरणा पाकर महाकाव्य में युद्ध-वर्णनों आदि के माध्यम से तत्कालीन राज-चेतना को विशेष प्रश्रय दिया गया है तो दूसरी ओर तत्कालीन सामन्तवादी भोग-विलास एवं स्त्री-सौन्दर्य सम्बन्धी चित्राङ्कनों के द्वारा शृङ्गार रस का भी विशेष नियोजन हुआ है। संक्षेप में द्विसन्धान परम्परागत मूल्यों से अनुप्रेरित एक ऐसा महाकाव्य है जिसमें युगबोध की काव्य-प्रवृत्तियों को भी विशेष वरीयता दी गयी है।

पञ्चम अध्याय

रस-परिपाक

भारतीय साहित्य-साधना का मुख्य आधार तत्त्व **रस** रहा है। विश्वनाथ जैसे रसवादी साहित्याचार्यों ने रस को काव्य की **आत्मा** कहकर इसके महत्व को पर्याप्त उभारने की चेष्टा की है।[१] रस के इस काव्यशास्त्रीय पक्ष के अतिरिक्त हमें यह भी देखना चाहिए कि सातवीं-आठवीं शताब्दी ईस्वी में काव्य की **रसमयता** विशेष प्रभावित हुई है। अश्वघोष, कालिदास जैसे कवियों के रसपेशल काव्य के स्थान पर भारवि आदि महाकवियों ने कृत्रिम एवं शब्दाडम्बरपूर्ण काव्य-साधना का श्रीगणेश कर सामन्तवादी काव्य-मूल्यों हेतु दिशा-निर्देशन का कार्य किया। सातवीं-आठवीं शताब्दी ईस्वी में भारतीय साहित्य-साधना तत्कालीन राजनैतिक अराजकतावाद से विशेष प्रभावित होकर निःसृत हुई है। अधिकांश रूप से देश में युद्धों का वातावरण होने के कारण वीर रस को काव्य में प्रधानता दी जाने लगी थी तथा उसके साथ स्पर्धा करने वाले शृङ्गार रस को भी विशेष महत्व दिया जाने लगा था। सामन्त राजाओं की विलासपूर्ण दिनचर्या एवं शृङ्गार सुख के प्रति उनके विशेष आकर्षण के कारण काव्यों व महाकाव्यों में ऐसे वर्णन विशेष रूप से काव्याङ्कित किये जाने लगे, जिनमें वीर एवं शृङ्गार की विशेष अभिव्यक्ति हो।[२] तत्कालीन साहित्याचार्यों द्वारा प्रतिपादित महाकाव्य-लक्षणों की ओर यदि हम दृष्टिपात करें तो स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने दूत-प्रेषण, राजनैतिक-मन्त्रणा, युद्ध-प्रयाण, घमासान युद्ध-वर्णनों[३] के माध्यम से वीर रस की संयोजना हेतु महाकाव्य को साहित्यिक कलेवर प्रदान किया, तो दूसरी ओर सलिल-क्रीडा,

---

१. 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्', साहित्यदर्पण, १.३

२. तु.—'कामास्त्रशाला इव यत्र बालाः', नेमिनिर्वाण, १.३९

३. तु.— 'मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि', काव्या., १.१७

मधुपान-गोष्ठी, रतिक्रीडा आदि[१] के माध्यम से तत्कालीन सामन्तवादी शृङ्गारिक रसभावना को उद्दीप्त करने के काव्यशास्त्रीय औचित्य को विशेष स्वर प्रदान किया।

द्विसन्धान-महाकाव्य की रस-संयोजना पर यदि उक्त परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में विचार किया जाए, तो ऐसा प्रतीत होता है कि द्विसन्धान में भी वीर और शृङ्गार रस की प्रधानतया अवतारणा हुई है। द्विसन्धान में युद्ध-कला और सैन्य-गतिविधियों का प्रधान रूप से चित्रण हुआ है। इनके साथ ही शृङ्गार रस को विशेष पोषण मिला है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि द्विसन्धान-महाकाव्य पर शृङ्गार हावी है, परन्तु समग्र महाकाव्य में 'वीर' और 'शृङ्गार' दोनों में से किसी एक को प्रधानता देनी हो तो 'वीर रस' को ही प्रधानता देनी होगी। फलतः प्रस्तुत महाकाव्य का अङ्गी रस 'वीर' है और शृङ्गार का स्थान उसके पश्चात् आता है। भयानक, रौद्र, बीभत्स, करुण आदि रसों की भी अङ्गत्वेन विशेष परिपुष्टि हुई है। द्विसन्धान-महाकाव्य में विविध रसों का संयोजन इस प्रकार हुआ है—

वीर रस

'वीर रस' का स्थायी भाव **उत्साह** है।[२] यह उत्तम प्रकृति तथा कुलीन हृदय वाले मनुष्यों में ही सम्भव है एवं उच्च-वर्गों में ही विशेष रूप से होता है। कारण यह है कि उचित प्रकार का उत्साह उन्हीं में दिखायी देता है। इसकी अनुभूति भी कुलीन पात्र द्वारा इसके प्रस्तुतीकरण से सम्बद्ध होती है। इस उत्साह की समीचीनता उसके प्रेरक तत्व पर अवलम्बित होती है।[३]

वीर रस आनन्दोत्पादक रसों की श्रेणी में आता है। इसका स्थायी भाव 'उत्साह' भयानक रस के स्थायीभाव 'भय' का प्रतिद्वन्दी कहा जा सकता है। भयानक रस में शीघ्रातिशीघ्र भयानक स्थिति की उपेक्षा और उससे छुटकारा पाने का प्रयत्न रहता है। किन्तु, वीर रस में स्थिति का उत्साह एवं आनन्दपूर्वक सामना किया जाता है। इस प्रकार वीर रस 'उत्साह' एवं 'आनन्द' दो तत्त्वों से युक्त है। इसका वर्ण गौर है तथा इसके देवता महेन्द्र हैं।[४]

---

१. तु.—'उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः', वही, १.१६

२. 'अथ वीरो नामोत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मकः', ना. शा., पृ. ८८

३. Pandey, K.C. : Comparative Aesthetics, Vol. I, Varanasi, 1952, p. 212

४. सा. द., ३.२३२

जितेव्य शत्रु आदि इसके आलम्बन विभाव माने गये हैं। इन जितेव्य शत्रु आदि की चेष्टाएं इसके उद्दीपन विभाव हैं। युद्धादि की सामग्री अथवा अन्यान्य सहायक साधनों का अन्वेषण इसके अनुभाव हैं। धृति, मति, गर्व, स्मृति, तर्क, रोमाञ्च आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं।[१]

द्विसन्धान-महाकाव्य का अङ्गीरस **वीर** है। दानवीर, धर्मवीर, दयावीर तथा युद्धवीर के भेद से वीर चार प्रकार का माना गया है।[२] वीरता के उक्त चारों गुण मनुष्य में प्रदर्शित होते हैं। द्विसन्धान-महाकाव्य में चारों प्रकार का वीर चित्रित हुआ है, किन्तु 'युद्धवीर' का चित्रण विस्तार के साथ हुआ है।

(क) युद्धवीर

द्विसन्धान-महाकाव्य में युद्धवीर का परिपाक पंचम, षष्ठ, नवम, दशम्, एकादश, चतुर्दश, षोडश, सप्तदश व अष्टादश सर्गों में विशेष रूप से हुआ है। द्विसन्धान-महाकाव्य में युद्धवीर का संयोजन प्रायः शौर्य वर्णन, युद्धगत पराक्रम वर्णन, सैन्य वर्णन तथा युद्ध वर्णनों के प्रसंग में दृष्टिगोचर होता है। इस सन्दर्भ में निम्न वर्णन उल्लेखनीय हैं—

शौर्यवर्णन

धनञ्जय ने जरासन्ध के परामर्शदाताओं तथा सुग्रीव के माध्यम से श्रीकृष्ण/रावण के साथ सीधे व अनायास संघर्ष की निरर्थकता का कुशलतापूर्वक वर्णन किया है। कवि ने इन सबके माध्यम से ही जरासन्ध को आक्रमण करने से पूर्व धैर्य तथा युक्ति-कौशल का प्रयोग करने तथा युद्ध-कौशल, शत्रु की सामर्थ्य एवं शक्ति का ज्ञान प्राप्त करने का परामर्श दिया है। इसी प्रसंग में श्रीकृष्ण/रावण के शौर्य तथा शक्ति को स्पष्ट किया गया है—

वैरन्तुङ्गोवर्धनमिच्छन्ननु दृष्ट्वा
कीर्त्यैकैलासं गतमुच्चैः स्थितिमुग्रः।
तं यो लोकं वायुरिवोर्ध्वं धरति स्म
त्रुट्यत्तन्तुभूतभुजङ्गं भुजदण्डैः॥[३]

---

१. सा.द., ३.२३३-३४
२. वही, ३.२३४
३. द्विस., १०.३८

अभिप्राय यह है कि "अपने यश के कारण प्रबल नारायण ने क्रीडा करने की इच्छा करके सामने अत्यन्त ऊँचे गोवर्धन को देखा और आश्चर्य है कि केवल वृक्षों की जड़ों के उन्मूलन और तन्तु के समान टूटते सर्पों के साथ उसे वैसे ही भुजाओं से ऊपर उठा लिया था, जिस प्रकार वायु संसार को उठाये हुए है"। रामायण पक्ष में इसका अर्थ है – "अपने यश की वृद्धि की कामना करते हुए अभिमानी तथा उग्र रावण ने कैलाश पर्वत के अत्यन्त ऊँचे भाग में तपस्या करते अपने शत्रु को देख उसे अपने भुजदण्डों पर वैसे ही उठा दिया था, जैसे वायु ऊर्ध्वलोक को उठाये है। रावण के उठाने के समय पृथ्वीतल में वास करते हुए नाग धागों की भाँति टूट गये"।

प्रस्तुत स्थल पर 'उत्साह' स्थायी भाव है। 'गोवर्धन'अथवा 'रावण-शत्रु' आलम्बन विभाव तथा नारायण/रावण आश्रय है। गोवर्धन की ऊँचाई/कैलास के अत्युच्च स्थान पर तपस्या करना उद्दीपन है। वृक्षों की जड़ों का उन्मूलन तथा नागों का धागों की भाँति टूटना अनुभाव है। अभिमान, यशेच्छा, आदि व्यभिचारी भाव हैं, जिनसे वीर रस को परिपोषण प्राप्त हुआ है।

एक अन्य प्रसङ्ग में रावण/जरासन्ध के विरुद्ध आक्रमण नीति निर्धारित करने के लिये सुग्रीव/वासुदेव द्वारा आमन्त्रित मन्त्रियों तथा परामर्शदाताओं की सभा की कार्यवाही का वर्णन करते हुए धनञ्जय ने एक ही पद्य में रावण/जरासन्ध के शौर्य का कुशलतापूर्वक चित्रण किया है—

एभिः शिरोभिरतिपीडितपादपीय
सङ्ग्रामरङ्गशवनर्त्तनसूत्रधारः।
तं कंसमातुल इहारिगणं कृतान्त-
दन्तान्तरं गमितवान्न समन्दशास्यः॥[१]

प्रस्तुत प्रसङ्ग में जाम्बवान्/बलराम के माध्यम से कवि ने रावण/जरासन्ध के अतिशय पराक्रम तथा युद्ध-कौशल को दर्शाया है। युद्धभूमि रूपी रंगमंच के निर्देशक के रूप में शवों के नृत्य का निर्देशन करते हुए और अपने सैन्यबल के सहयोग से समस्त शत्रुसमूह को यम के मुख में भेजने का सामर्थ्य रखते हुए

---

१. द्विस.,११.३८

रावण/जरासन्ध का वर्णन करने में कवि ने अपनी अद्वितीय तथा विलक्षण कल्पना शक्ति का परिचय दिया है ।

यहाँ 'उत्साह' स्थायी भाव है । शत्रुसमूह आलम्बन तथा दशमुख/जरासन्ध आश्रय है ।पृथ्वी के शत्रुसमूह को यम के दाँतों के बीच में झोंक देना उद्दीपन विभाव है। राजाओं का नतमस्तक होना, संग्राम में शव-नर्तन के लिए सूत्रधार बनना आदि अनुभाव हैं । गर्व, आवेग, हर्ष आदि व्यभिचारी भाव हैं, जिनसे परिपुष्ट होकर शौर्य जनित 'उत्साह' का युद्धवीर रूप में परिपाक हुआ है ।

युद्धगत पराक्रम-वर्णन

द्विसन्धान-महाकाव्य में शौर्य-वर्णनों की भाँति युद्धगत पराक्रम-वर्णनों द्वारा भी वीर रस की अद्‌भुत अभिव्यक्ति हुई है । यथा—

स सागरावर्तधनुर्धरो नरो नभः सदां कामविमानसंहतिम् ।
अयत्नसंक्लृप्तगवाक्षपद्धतिं चकार शातैर्विशिखैर्विहायसि ॥[१]

प्रस्तुत प्रसङ्ग में खरदूषण के साथ युद्धरत लक्ष्मण तथा दुर्योधन के साथ अर्जुन के अप्रतिम पराक्रम का चित्रण किया गया है । रामायण के प्रसङ्ग में 'सगर राजा की वंश-परम्परा में उत्पन्न उस धनुषधारी लक्ष्मण ने आकाशचारी खर-दूषण आदि विद्याधरों के इच्छामात्र से चलने वाले विमानों को आकाश में ही रहने पर भी तीक्ष्ण बाणों के द्वारा ऐसा छेद दिया था कि वे स्वाभाविक खिड़कियों से पूर्ण के समान लगते थे' । महाभारत-पक्ष में इसका अर्थ है—'समुद्र की भँवर के समान विशाल तथा वारुण धनुष के धारक उस अर्जुन ने विशिष्ट लौह से बने शस्त्रों की प्रयोग-स्थली युद्धभूमि में अपने प्रखर बाणों की वर्षा से थलचर कीचकादि के निमित्त से घेरी गयी सर्वथा बेप्रमाण गायों के समूह के लिये बिना किसी प्रयत्न के निकल भागने योग्य मार्ग बना दिया था' ।

यहाँ खर-दूषण/दुर्योधन की पराजय के व्याज से लक्ष्मण/अर्जुन के युद्धगत पराक्रम का कुशलतापूर्वक चित्रण किया गया है । इसमें 'उत्साह' स्थायी भाव है । खर-दूषण/दुर्योधनादि आलम्बन तथा लक्ष्मण/अर्जुन आश्रय हैं । शत्रुपक्ष के विमान या गायों का घेरा उद्दीपन है । विमानों में तीक्ष्ण-बाणों से छेद होना अथवा

---

१. द्विस., ६.२३

गायों का बिना प्रयत्न के भागना आदि अनुभाव हैं। गर्व, आवेग आदि व्यभिचारी भाव हैं, जिनके सहयोग से वीर रस का परिपाक हो रहा है।

एक अन्य प्रसङ्ग में धनञ्जय ने वीर रस के उद्रेक का अद्‌भुत चित्रण किया है। यहाँ उनका कथन है कि शत्रु राजाओं की ज्या की टंकार से शुद्ध वीर रस का उद्रेक हो गया तथा इस उद्रेक से सपक्षी राजाओं के इकहरे शरीर हठात् रोमांचित हो उठे, यह रोमांच ऐसा था जैसे घन-गर्जन के साथ-साथ वृष्टि के सिञ्चन से बेलें अङ्कुरित हो उठती हैं—

उत्कर्ण्य मौर्वीनिनंद नृपाणां तनूलता कण्टकिताऽनुरागात्।
उत्सेकतो वीररसैकसारादभूद्विरुढेव समं रिपूणाम् ॥[1]

सैन्य-वर्णन

धनञ्जय ने अपने कवित्वमय ओज तथा इतिहास के पूर्वनिर्धारित ज्ञान के साथ राम/कृष्ण के विरुद्ध रावण/जरासन्ध के अव्यवस्थित सैन्य-प्रयाण का वर्णन किया है—

रथो बरूथस्य हयस्य वाजी गजः करेणोः पदिकः पदातेः।
दुर्मन्त्रितं ध्यानमिवात्मबिम्बं स्वस्यैव संनद्धमिवाग्रतोऽभूत् ॥[2]

धनञ्जय ने इस वर्णन में बताया है कि शत्रु को उलझाने के लिये किस प्रकार सारथि अपने रथ एक दूसरे की ओर दौड़ा रहे थे, कैसे घोड़े सवारों सहित एक दूसरे से आगे जा रहे थे, कैसे हाथी हथिनियों को पीछे छोड़ रहे थे और कैसे पदाति एक दूसरे के सम्मुख पहुँचकर जूझ रहे थे। समस्त वर्णन युद्ध-कला सम्बन्धी ज्ञान तथा युद्ध-भूमि में होने वाली गतिविधियों का सूचक है, जो कवि के सैन्य विज्ञान की जानकारी को द्योतित करता है। कवि द्वारा प्रतिनायक की ऐसी दुस्साहसी समस्त सेना को उस 'कुध्यान' के समकक्ष बताया गया है, जिसमें खोटे मन्त्र के जाप से इष्ट देवता का साक्षात्कार न होकर अपना ही प्रतिबिम्ब सम्मुख आता है। यह उपमा युद्ध के पूर्वनिश्चित भाग्य की सूचिका है।

इसी प्रकार राम/कृष्ण की सेनाओं का युद्ध के लिये प्रस्थान भी अत्यन्त वीर-रसोत्पादक बन पड़ा है। कवि धनञ्जय कहते हैं कि मदोन्मत्त हाथी के मस्तक

---

१. द्विस.,१६.२०
२. द्विस.,१६.८

पर रखी हुई भेरी की ध्वनि, नगाड़े की आवाज को सुनकर समस्त सैनिक स्वयंस्फूर्त हो उठे। फलस्वरूप सभी परमानन्दित तथा रोमाञ्चपूरित हो गये। इस प्रकार के भावों से उनके हृदय से राग आदि भावों का लोप हो गया और सामने आये शत्रुओं को देखकर वे क्रोध की अनुभूति से आप्लावित हो उठे—

स्कन्धस्था मदकरिणः प्रयाणभेरी
दध्वान प्रतिसमयं निहन्यमाना।

अत्युच्चं पदमधिरोप्य मान्यमारान्
न्यक्कारं क इह परैः कृतं सहेत॥

आरावं दिशि दिशि तं निशम्य तस्या
रोमाञ्चैः परिहृषितैस्तनुर्नृपाणाम्।

अम्भोदप्रथमरवोत्थरत्नसूचिः सरेजे
स्वयमिव सा विदूरभूमिः॥

रागादेः सह वसतोऽपि तापवृत्तेर्यः
स्वस्मिन्नवधिरहो न कस्यचित्सः।

भूपानां रिपुमभिपश्यतामिवोग्रं
यत्कोपे स्फुरति रसान्तरं न जज्ञे॥[१]

यहाँ सैनिकों के हृदय में 'उत्साह' स्थायी भाव है। शत्रु-पक्ष आलम्बन तथा राम/कृष्ण आश्रय है। युद्ध-भेरी का घोष तथा नगाड़े की ध्वनि उद्दीपन विभाव हैं। प्रयाण-भेरी सुनकर सैनिकों का परमान्दित होना तथा शरीर का रोमाञ्चित होना अनुभाव हैं। गर्व, आवेग, औत्सुक्य, हर्ष आदि व्यभिचारी भाव हैं। इस प्रकार सैन्य-प्रयाण जनित 'उत्साह' की भव्य निदर्शना यहाँ प्रस्तुत हुई है।

युद्ध-वर्णन

धनञ्जय ने युद्ध-भूमि में योद्धाओं के क्रिया-कलापों से सम्बद्ध अपने ज्ञान का प्रदर्शन भी किया है। उसने अपने विशिष्ट काव्यात्मक ओज के साथ वर्णन किया है कि किस प्रकार खर-दूषण/कौरवों के विरुद्ध राम-लक्ष्मण/भीम-अर्जुन का युद्ध लक्ष्य-निर्धारण तथा मन की एकाग्रता में ऋषियों की 'समाधि' से समानता

---

१. द्विस.१४.२-४

रखता है । उनकी धनुष खींचने की कला एवं तकनीक अतुलनीय थी । दोनों भाइयों की ज्या की टङ्कार सुनकर शत्रु-योद्धाओं के मन ठंडे पड़ गये थे और भय से उन्होंने अपने शस्त्र गिरा दिये थे । ऐसा प्रतीत होता था कि उनके प्रतिबद्ध-कर्म छूट गये थे और भविष्य के कर्म दृढ़ हो गये थे । पक्षान्तर में, यह भी प्रतीत होता है कि ज्या की टङ्कार से देव-स्त्रियों ने विह्वल होकर पहले प्रेमालिंगन ढीला कर दिया तथा बाद में सुरक्षा के लिये प्रेमियों के वक्ष से जोर से चिपक गयीं—

तपःसमाधिष्विव तौ तपस्यतां प्रसज्य कर्णेष्विव दिक्षु दन्तिनाम् ।
दिगीश्वराणां हृदयेष्विवायतं विकृष्य मौर्वीं विनिजघ्नतुस्तराम् ॥
ज्ययोर्विरिब्धं विनिशम्य धन्विनां निपेतुरस्त्राणि करान्मनांसि च ।
श्लथानि पूर्वाणि पराणि योषितां घनानि गूढान्यभवन्नभःसदाम् ॥[१]

यहाँ 'उत्साह' स्थायी भाव है । खर-दूषण/कौरवों सहित समस्त शत्रुपक्ष आलम्बन विभाव है तथा राम-लक्ष्मण/भीम-अर्जुन आश्रय हैं । ज्या की टंकार आदि उद्दीपन विभाव हैं । धनुष द्वारा एकाग्रचित होकर बाण-प्रहार करना अनुभाव है । मति, धृति, औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भाव हैं । इनके संयोग से वीर रस निष्पन्न हो रहा है ।

एक अन्य स्थान पर कवि कहता है कि नायक तथा प्रतिनायक दोनों शारीरिक बल की दृष्टि से समान हैं, दोंनों ही विजयश्री की प्राप्ति के लिये उद्यमशील हैं तथा दोनों ही उद्धत होकर एक दूसरे पर प्रहार कर रहे हैं, किन्तु किसी का वेग किञ्चित् मात्र भी नहीं घट रहा है । यहाँ तक कि नायक द्वारा प्रतिनायक को रथहीन कर देने पर भी वह उसी साहस के साथ युद्ध-रत है । इस प्रकार का युद्ध देखते-देखते सूर्य का अहंकार भी ढलने लगा अर्थात् सूर्यास्त का समय आ गया है—

सदृशौ बलेन समकालमधिकृतजयौ निजोद्धती ।
पुण्यदुरितनिचयाविव तौ व्यतिरेधतुर्न तु जवाद् व्यतीयतुः ॥
विरथश्चिरेण विहितोऽपि विततधनुषामुना रिपुः ।
जातमिव बहुमुखं सुकृतं विविधं स मूलविभुजं व्यलङ्घयत् ॥

---

१. द्विस., ६.४-५

अवलोकितुं हरिविघातमसह इव गन्तुमुद्यतः ।
संख्यरुधिरमवलोक्य चिरं स मदादपप्तदिव तीव्रगुः सदा ॥[१]

वीर रस के परिपाक का मर्मस्पर्शी स्थल वहाँ है, जहाँ प्रतिनायक अपने साहस की पराकाष्ठा दिखाते हुए नारायण से कहता है—"मैं निरस्त्र हूँ ऐसा मत समझो, क्योंकि मैं हाथ के द्वारा ही तुम्हारे शस्त्र को बेकार कर दूंगा। अपने चक्र को छोड़िए। मैं करतल-प्रहार से ही उसे तोड़ देता हूँ"। तदन्तर मन्दिरांचल के पार्श्व से सुनायी देने वाली भेरियों तथा मङ्गलपाठियों द्वारा किये गये गुणगान के मध्य नारायण ने रावण अथवा जरासन्ध पर चक्र-प्रहार किया। प्रतिनायक ने अपना दुःसाहस नहीं छोड़ा, किन्तु चक्र ने उसके शिर को आक्रान्त किया तथा ग्रीवा पर हुए आघात से शिर कट गया—

मा ज्ञाप्यस्मि निरस्त्रोऽहं हस्तेनास्त्रं हि मुच्यते ।
ततस्तलप्रहारेण मुञ्चास्त्रं क्राथयामि ते ॥
इत्याकर्ण्य तमुत्साहं साहंकारं सुरावली ।
सुरावलीला साशंसं साशं संप्रशशंस तम् ॥
शौर्यं ह्रीश्च कुलीनस्य स्वे नुः सद्मार्गलाञ्छनम् ।
वस्वितीवोक्तये भेर्यः स्वेनुः सद्मार्गलाञ्छनम् ॥
गाथका गाथकाबन्धैः सञ्जगुः स्थाम सञ्जगुः ।
राशिराशिश्रवन्नाम वन्दिनां गुणवन्दिनाम् ॥
देवैर्विमानशालायामास्थितैर्मत्तवारणीम् ।
रणरङ्गस्तयोस्तत्र पूर्वरङ्ग इवाभवत् ॥
नामोचितेन चक्रान्तं दोष्णवर्त्यामुचद्धरिः ।
नामोचि तेन च क्रान्तं धैर्यं जगति वैरिणा ॥
तेनार्जितात्मशिरसा श्रीः कथं सा बहिः शिरः ।
इतीवोत्सृज्य सोऽन्याङ्गमुत्तमाङ्गमतोऽग्रहीत् ॥
ग्रीवा हते क्षरत्तन्त्री वैरराजे समन्ततः ।

---

१. वही,१७.१९-२१

धुनी सधातुस्यन्देव वै रराजे समं ततः ॥[१]

प्रस्तुत प्रसङ्ग में नायक तथा प्रतिनायक दोनों का अदम्य उत्साह स्थायी भाव है। नायक व प्रतिनायक परस्पर आलम्बन व आश्रय हैं। चक्र-प्रहार तथा ग्रीवा-भेदन उद्दीपन विभाव हैं। भेरी नाद का श्रवण तथा मङ्गलपाठियों द्वारा भटों का गुणगान अनुभाव हैं। गर्व, औत्सुक्य, उग्रता, असूया आदि व्यभिचारी भावों से वीर रस सुतरां आस्वादित हो रहा है।

(ख) दानवीर

सन्धान-कवि धनञ्जय ने अपने द्विसन्धान-महाकाव्य में दानवीरता के सुन्दर उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। राम/युधिष्ठिर के जन्म के अवसर पर धनञ्जय दशरथ या पाण्डु की दानवीरता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि राजा दशरथ अथवा पाण्डु ने पुत्र-जन्म की सूचना देने वालों को इस प्रकार पुरस्कार दिया कि उनके शरीर पर भावी राजकुमार के लिये राजचिह्न मात्र रह गये। कारण यह था कि महापुरुष प्रसन्न होने पर वही वस्तु किसी को देते हैं, जो उनकी अपनी होती है—

निवेदयद्भ्यः सुतजन्म राजा स राज्यचिह्नं सुतराज्यभाव्यम्।
हित्वैतदेकं धृतवान्नकिञ्चिद्देयं हि तुष्टैरपि नान्यदीयम् ॥[२]

प्रस्तुत उदाहरण में पुरस्कार बाँटने का 'उत्साह' स्थायी भाव है। पुत्र-जन्म की सूचना देने वाले आलम्बन विभाव तथा दशरथ/पाण्डु आश्रय है। दान के द्वारा मिलने वाला यशोलाभ उद्दीपन विभाव है। पुरस्कार दने के साथ परवस्तु न देकर स्ववस्तु ही देना अनुभाव है। हर्ष, गर्व, औत्सुक्य, विवेक आदि व्यभिचारी भाव हैं। परिणामस्वरूप दानवीर अनुभवजन्य है।

(ग) धर्मवीर

द्विसन्धान-महाकाव्य में धर्मवीरता का सुन्दर चित्रण भी यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। रावण/जरासन्ध से युद्ध-काल में क्या नीति अपनायी जाए? इस विषय पर विचार करते हुए जाम्बवन्त/बलराम राम/श्रीकृष्ण को पूर्णतः धर्मानुकूल विधि का आचरण करने की सलाह देते हैं—नीति के अनुकूल शत्रु की विभिन्न प्रकृतियों से प्रेरित होकर ही शत्रु के प्रति अभियान करना चाहिए। किन्तु इसमें बन्धुता अथवा

---

१. द्विस., १८.९१-९८
२. द्विस., ३.१६

बन्धुओं का संहार नहीं होना चाहिए। तदनुकूल वासुदेव लक्ष्मण/कृष्ण श्रुतज्ञानियों से साम अथवा दण्ड का उचित ज्ञान प्राप्त करते हैं तथा उसका प्रयोग करते हैं—

विगणय्य परस्य चात्मनः प्रकृतीनां समवस्थितिं पराम्।
अमुयोपचिताः कयापि चेद्द्विषतेऽसूंथियिषन्ति सूरयः॥
तत्संहारो मा स्म भूद्बन्धुतायाः सिद्धादेशव्यक्तये सिद्धशैलम्।
नीत्वा विष्णुं तं परीक्षामहेऽमी ज्ञात्वा दण्डं साम वा योजयामः॥[१]

प्रस्तुत सन्दर्भ में 'उत्साह' स्थायी भाव है। आलम्बन विभाव वासुदेव-लक्ष्मण/श्रीकृष्ण का शत्रुपक्ष है व वासुदेव/श्रीकृष्ण स्वयं आश्रय है। शत्रु के प्रति राजा की नीति के अनुकूल व्यवहार उद्दीपन विभाव है। राजा की श्रुतज्ञानियों में निष्ठा तथा गम्भीरता अनुभाव हैं। धर्मयुक्त मति, तर्क आदि संचारी भावों के सहयोग से धर्मवीर का परिपोषण हो रहा है।

(घ) दयावीर

वीर रस के प्रभेदों में 'दयावीर' को भी उचित स्थान प्राप्त हुआ है। धनञ्जय विरचित द्विसन्धान-महाकाव्य में इसका प्रयोग एकाधिक स्थानों पर देखा जा सकता है। जिस प्रकार समुद्र कूड़े-कचरे को बाहर फेंक देता है तथा नीचे की ओर बहने वाली नदियों को अपना लेता है, उसी प्रकार दशरश/पाण्डु कर्कश तथा निर्दय मित्र को भी दण्ड देता था तथा चरणों में नत शत्रु को भी सहानुभूतिपूर्वक अपना लेता था—

सुहृज्जनं क्रशयति यः स्म कर्कशं पदानतं द्विषमपि तं व्यगाहत।
निजं मलं क्षिपति हि वार्द्धिरुद्धतं नदीनदं समुपनतं विगाहते॥[२]

यहाँ 'उत्साह' स्थायी भाव है। चरणों में नत होने वाला शत्रु आलम्बन विभाव है तथा दशरथ/ पाण्डु आश्रय है। कर्कश तथा निर्दय मित्र को दण्ड देना उद्दीपन विभाव है। शत्रु का चरणों में नतमस्तक होना अनुभाव है। नतमस्तक होने वाले शत्रु के प्रति आविर्भूत सहानुभूति में धैर्य तथा तर्कपूर्ण बुद्धि सहयोगी है, अतः

---

१. द्विस., ११.३९-४०
२. वही, २.२४

धैर्य तथा तर्क संचारी भाव हैं। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से यहाँ पर दानवीर प्रस्फुटित हो रहा है।

शृङ्गार रस

संस्कृत के सभी काव्यशास्त्रियों ने प्रायः शृङ्गार रस को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। भरत शृङ्गार रस को सर्वप्रमुख मानते हैं। रुद्रट इसको बाल एवं वृद्ध—दोनों में समाज, मानव-प्रकृति की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार करते हुए, इसके अभाव में काव्य के समस्त सौन्दर्य के खो जाने की आशंका करते हैं।[१] भोज तो सभी रसों के स्थान पर मात्र शृङ्गार को ही रस की संज्ञा देकर इसके महत्व को असीम बना देते हैं।[२] यही कारण है कि संस्कृत काव्य-जगत् में शृङ्गार को सर्वोत्कृष्ट माना गया तथा इसका अधिकाधिक विवेचन हुआ।

शृङ्गार रस **रति** नामक स्थायी भाव से उत्पन्न होता है। यह अपनी आत्मा की भाँति उज्ज्वल वेश वाला होता है, जैसे कि इस लोक में जो कुछ भी श्वेत, शुद्ध, उज्ज्वल और सुन्दर है, वह शृङ्गार (रति) से उपमित होता है।[३] इसीलिए इस रस के आलम्बन उत्तम प्रकृति के प्रेमी व प्रेमिका होते हैं। यह युवावस्था के प्रकर्ष से सम्बद्ध होता है।[४] विश्वनाथ के अनुसार अनुराग-शून्य वेश्या नायिका के अतिरिक्त अन्य प्रकार की नायिकाएं तथा दक्षिण आदि प्रकार के नायक ही इसके उपयुक्त आलम्बन विभाव होते हैं।[५]

चन्द्रमा, भ्रमर, एकान्त-स्थान आदि इसके उद्दीपन विभाव हैं। अनुराग, भ्रूविक्षेप, कटाक्ष आदि इसके अनुभाव हैं तथा उग्रता, मरण, आलस्य, जुगुप्सा के अतिरिक्त अन्य भाव इसके सञ्चारी (व्यभिचारी) भाव हैं।[६]

नायक तथा नायिका के संयोग तथा वियोग के आधार पर शृङ्गार रस के दो भेदों की कल्पना की गयी है—(१)सम्भोग शृङ्गार और (२) विप्रलम्भ शृङ्गार।

---

१. का.रु., चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६६, १४.३८
२. शृङ्गारप्रकाश, पृ.४७०
३. ना.शा., मनीषा ग्रन्थालय, कलकत्ता-१२, १९६७, ६.१५
४. वही, १.१५
५. सा.द., ३.१८३-८४
६. वही, ३.१८५

'द्विसन्धान-महाकाव्य' में दोनों ही प्रकार के 'शृङ्गार' का विवेचन इस प्रकार हुआ है—

(१) सम्भोग शृङ्गार

समान मनोदशा वाले अत्यन्त प्रसन्न प्रेमी एवं प्रेमिका जो कुछ दर्शन, भाषण आदि करते हैं, वह सब सम्भोग शृङ्गार कहा गया है।[१] धनञ्जय कृत द्विसन्धान-महाकाव्य में सम्भोग शृङ्गार का भी चरमोत्कर्ष प्रदर्शित किया गया है। पन्दरहवें सर्ग में प्रियाओं के साथ वन-विहार व जल-विहार तथा सतरहवें सर्ग में सम्भोग-वर्णन आदि प्रसंगों में सम्भोग-शृङ्गार का पूर्ण परिपाक प्राप्त होता है। द्विसन्धान-महाकाव्य में सम्भोग शृङ्गार के समस्त रूपों—सन्दर्शन, स्पर्श, वस्त्राहरण, चुम्बन, आलिङ्गन, अधरक्षत, नखक्षत, दोलाक्रीडा, पुष्पावचय, सलिल-क्रीडा, चन्द्रोदय, कामक्रीडा का पारम्परिक वर्णन हुआ है। इस महाकाव्य में मधुपान, जो जैन परम्परा के अनुसार एक व्यसन है, का भी विशद वर्णन प्राप्त होता है।

सन्दर्शन

निश्वासमुष्णं वचनं निरुद्धं म्लानं मुखाब्जं हृदयं सकम्पम्।

श्रमादिवाङ्गं पुलकप्रसङ्गं पदे पदेऽसौ बिभरांबभूव॥[२]

प्रस्तुत उदाहरण में उस समय का वर्णन है, जब सूर्पणखा अथवा कीचक लक्ष्मण अथवा द्रौपदी को देखते हैं। यहाँ रति स्थायी भाव है। आलम्बन विभाव लक्ष्मण/द्रौपदी है तथा आश्रय सूर्पणखा/कीचक है। लक्ष्मण/द्रौपदी का लोकोत्तर सौन्दर्य उद्दीपन विभाव है। सम्मोहन, हर्ष, मद आदि व्यभिचारी भाव हैं। ऊष्ण श्वासों का निकलना, वचनों का गद्गद् अथवा असम्बद्ध-सा निकला, मुखकमल का मुरझा जाना, हृदय धड़कना आदि अनुभाव हैं। सम्मोहन के कारण शरीर में होने वाला रोमाञ्च, स्वेद आदि सात्विक भाव हैं। यहाँ पर सूर्पणखा/कीचक का सम्भोग अभिलाषत्व व्यंजित हो रहा है। लक्ष्मण/द्रौपदी को देखते ही उसके हृदय में सम्भोगेच्छा बलवती हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप ऊष्ण श्वासें निकलना, वचनों का गद्गद् हो जाना आदि लक्षण प्रकट हो जाते हैं।

---

१. काऱु.,१३.१

२. द्विस.,५.८

स्पर्श

सपदि न तदवेयुषी वधूरधिदयितायतबाहु विप्लुता।
रमणसलिलयोः किमीयतः पुलकितमङ्गमिति प्रसङ्गतः ॥[१]

यहाँ प्रेमी जलकेलि के प्रसङ्ग में प्रेमिका को अपनी आजानु लम्बी भुजाओं पर पानी में तैरा देता है। इससे प्रेमिका को रोमाञ्च हो जाता है और वह इस रोमाञ्च का कारण नहीं समझ पाती कि यह पति स्पर्श से हुआ है या जलक्रीडा से। स्थायी भाव रति है। आलम्बन विभाव प्रेमिका तथा आश्रय प्रेमी है। नदी की शोभा, प्रेमिका का मुग्धा रूप तथा प्रेमी की भुजाएं उद्दीपन विभाव हैं। नेत्र-निमीलन, मुस्कुराहट आदि अनुभाव आक्षिप्त हैं। स्तम्भ, रोमाञ्च आदि सात्विक भावों के द्वारा शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति हुई है।

वस्त्राहरण

व्रीडावासः स्वान्तमङ्गं समस्तं कामार्त्तानां प्राप शैथिल्यमेका।
स्वप्नेऽप्यासीन्नश्लथा बाहुपीडा युक्तं द्राघीयस्सु मूर्खत्वमाहुः ॥[२]

प्रस्तुत प्रसंग में प्रेमी व प्रेमिका के सम्भोग का वर्णन है। दोनों काम से आतुर होकर न केवल लज्जा ही छोड़ बैठे हैं, अपितु उन्होंने वस्त्र भी उतार दिये हैं। काम-भोग से अंग शिथिल हो गये हैं। थक कर सो जाने पर भी उनके भुजापाश ढीले नहीं हुए हैं। यहाँ रति स्थायी भाव है। परस्पर प्रेमी व प्रेमिका आलम्बन विभाव हैं। कामातुरता उद्दीपन विभाव है। भुजपाश का ढीला न होना आदि उन्माद व्यभिचारी भाव हैं। वस्त्राहरण, शरीरों की क्लान्तता आदि अनुभाव हैं जिनसे पूर्ण शृङ्गार की अभिव्यक्ति हो रही है।

चुम्बन

आलिङ्ग्य गाढं मधुरं ध्वनन्ती मुखे मुखं न्यस्य वधूः प्रियस्य।
विस्मृत्य कर्णान्तरमुन्मदत्वा दास्ये जपन्तीव बभौ रहस्यम् ॥

किमु मधुरसितां मुखात्प्रियां प्रशमयितुं रसमुत्पिबन्निव।
अविरतिरुतनिंसनच्छलादजनि जनः सकलां गिलन्निव ॥[३]

---

१. द्विस., १५.४३
२. वही, १७.७४
३. वही, १७.६४-६५

प्रस्तुत उद्धरण में कामकेलिमग्न प्रिययुगल का चुम्बन-वर्णन हैं। प्रिया ने आनन्द के अतिरेक में प्रिय को आलिङ्गन कर उसका चुम्बन कर लिया है। चुम्बन करते समय वह गुनगुनाती हुई सी ऐसी लग रही है, जैसे प्रियमुख को उसका कान समझकर उसमें कुछ गुप्त बात कह रही हो। इस प्रकार से मद्यपान के उपरान्त रतिकेलि में मस्त प्रिया को शान्त करने के लिये प्रेमी मुख में मुख डालकर उसका चुम्बन कर रहा है। इस समय रति रस को पीता हुआ वह ऐसा लग रहा है जैसे पूरी की पूरी प्रियतमा को ही निगले जा रहा हो। प्रेमी की इसी प्रतिक्रिया से रति सुख में लीन प्रेमिका की मधुर गुनगुनाहट और चुम्बन भी शान्त हो गये।

यहाँ रति स्थायी भाव है। प्रेमी और उसकी प्रेमिका परस्पर आलम्बन विभाव हैं। मद्यपान आदि उद्दीपन विभाव हैं। हर्ष, उन्माद, चपलता, औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भाव हैं। आलिङ्गन तथा चुम्बनों का आदान-प्रदान अनुभाव हैं। रोमाञ्च, स्वेदादि सात्विक भाव आक्षिप्त हैं।इनके सहयोग से सम्भोग शृङ्गार अभिव्यञ्जित हो रहा है।

एक अन्य प्रसङ्ग में कवि धनञ्जय प्रेम-कोप के अश्रुजल से भीगे हुए ओष्ठों के चुम्बन से मिलने वाली तृप्ति की मधुपान से तुलना करते हैं–

कोपाश्रुभिः कालवणैः परीतः स्याद्वा स लावण्यमयः प्रियोष्ठः।
कुतोऽन्यथा तं पिबतामुदन्या माधुर्यवत्प्रत्युत हन्ति तृष्णाम्॥[१]

प्रस्तुत उद्धरण में कवि कल्पना करता है कि अत्यल्प नमकीन प्रेम-कोप के अश्रुजल से भीगा प्रेमिका का ओष्ठ हल्का नमकीन हो जाने से अत्यन्त सुस्वादु हो गया। ऐसा होने से प्रेमियों की (काम) पिपासा उसी प्रकार शान्त हो गयी, जैसे मधुपान से होती है। यहाँ रति स्थायी भाव है। प्रेमिका आलम्बन विभाव है और प्रेमी आश्रय है। ओष्ठ उद्दीपन विभाव हैं। हर्ष, उन्माद, औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भाव हैं। चुम्बन अनुभाव है। रोमाञ्च आदि सात्विक भाव हैं जिनसे सम्भोग शृङ्गार प्रतिस्फुटित हो रहा है।

आलिङ्गन

परिपीडितमुक्तमङ्गनायाः परिरम्भेषु चिरादिव प्रियेण।
हृदयोच्छ्वसितोष्मणा सहैव प्रतिसर्पत्कुचयुग्ममुन्ममज्ज॥[२]

---

१. वही, १७६८

प्रस्तुत प्रसङ्ग में धनञ्जय एक प्रेमी युगल के प्रगाढ़ आलिङ्गन का वर्णन करते हुए कहता है कि आलिङ्गन करते समय प्रियतम के द्वारा पहले दबाया गया और बाद में छोड़ दिया गया कल्याणाङ्गी नायिका का कुचयुग्म हृदय के उच्छ्वास की ऊष्मा के साथ-साथ फैलते हुए के समान काफी देर में ऊपर उठा था। यहाँ स्थायी भाव रति है। प्रेमी और प्रेमिका परस्पर आलम्बन विभाव हैं। कुचयुग्म, अनुवृत्त चन्द्रमा की कान्ति आदि उद्दीपन विभाव हैं। हर्ष, उन्माद, औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भाव हैं। आलिङ्गन अनुभाव है। रोमाञ्च, स्वेद आदि सात्विक भाव आक्षिप्त हैं। इनके सहयोग से सम्भोग शृङ्गार की अभिव्यक्ति हो रही है।

कवि धनञ्जय ने आलिङ्गन के सन्दर्भ में स्तनों की भूमिका का अत्यन्त उद्दीपक चित्रण किया है—

परिषजति परस्परं समेत्य प्रतिमिथुने कुचमण्डलं बबाधे।

भजति हि निजकर्कशं न पीड़ा कमपरमध्यगतापवारकं वा॥[१]

अभिप्राय यह है कि प्रेमी तथा प्रेमिका को निकट आकर एक-दूसरे को गाढ़ आलिङ्गन करने में मध्य में आया हुआ स्तन-मण्डल बाधा पहुँचा रहा है। सत्य ही है, स्वयं की कठोरता अथवा दो के मध्य आया हुआ तीसरा (बाधक) सदा ही कष्ट-दायक होता है। एक अन्य स्थल पर कवि स्तनचक्र की संघर्षरत दो पक्षों के मध्य मध्यस्थ के रूप में कल्पना करता है—

मध्यस्थितं मण्डलधर्मबद्धं मित्रं जिगीष्वोरिव पीड्यमानम्।

सन्देहभावि स्तनचक्रमासीत् साधारणं तत्प्रिययोर्मुहूर्तम्॥[२]

अर्थात् दोनों प्रेमियों के आलिङ्गन के समय बीच में दबा वर्तुलाकार नैसर्गिक स्तनचक्र क्षणभर के लिये सन्देह में पड़ गया था, क्योंकि उस समय वह दो विजिगीषुओं के मध्यस्थ मित्र की स्थिति में था। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार एक मित्र राजा को संघर्षरत दो पक्षों के मध्य मध्यस्थ बनने पर दोनों पक्षों के आक्रमण सहने पड़ते हैं, उसी प्रकार आलिङ्गन रूपी संघर्ष के समय मध्यस्थ मित्र राजा के

---

७. द्विस,१७६१

१. वही,१५१९

२. वही,१७६३

रूप में बीच दबे हुए स्तनचक्र को प्रेमी तथा प्रेमिका दोनों के आक्रमण सहने पड़ रहे थे।

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में स्थायी भाव रति है। प्रेमी तथा प्रेमिका परस्पर आलम्बन विभाव हैं। प्रेमिका के स्तन उद्दीपन विभाव हैं। हर्ष, उन्माद आदि व्यभिचारी भाव हैं ।आलिङ्गन अनुभाव है। रोमाञ्च, स्वेदादि सात्विक भाव आक्षिप्त हैं। इनके सहयोग से सम्भोग शृङ्गार आस्वादित हो रहा है।

अधरक्षत

उदधमदिव तत्पराभिमर्शादधरयुगं व्यतिचुम्बितं स्वमङ्गम्।
अधरितगतयो गृहीतमुक्ताः समुपचिता हि सह व्रणैः स्फुरन्ति ॥[1]

प्रस्तुत उद्धरण में धनञ्जय वन-विहार करते हुए प्रेमी-युगलों के आलिङ्गन, चुम्बन के मध्य प्रेमिका के ओष्ठों पर हुए दन्तक्षतों का वर्णन करते हैं। प्रेमी युगलों के गाढ़ आलिङ्गन, सतत चुम्बन से ओष्ठों का आकार फूला हुआ-सा हो गया है। जब प्रेमी ने प्रेमिका का प्रगाढ़ चुम्बन लेकर, उसके ओष्ठों को दबाकर छोड़ा तो उनमें दन्तक्षत थे और वे फड़क रहे थे। यहाँ रति स्थायी भाव है। प्रेमी व प्रेमिका परस्पर आलम्बन विभाव हैं। उपवन, वन-विहार, प्रेमिका की चेष्टाएं उद्दीपन विभाव हैं। हर्ष, उन्माद, चपलता, औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भाव हैं। आलिङ्गन, चुम्बन आदि अनुभाव हैं। रोमाञ्च, स्वेदादि सात्विक भाव आक्षिप्त हैं, जिनसे सम्भोग शृङ्गार का परिपाक स्पष्ट हो रहा है।

नखक्षत

घनयोः स्तनयोः स्मरेण तन्व्याः परिणाहं परिमातुमुन्नतिं च।
रचितेव रसेन सूत्ररेखा नखलेखा विरराज कुङ्कुमस्य ॥[2]

प्रस्तुत प्रसंग में कामकेलिरत नायिका के वक्षस्थल का अतिहृदयग्राही चित्रण किया गया है। नायिका के स्तनों पर लगी हुई नखक्षत की रेखाएं ऐसी प्रतीत हो रही थीं जैसे कामदेव ने नायिका के कठोर और सघन स्तनों की गोलाई और ऊँचाई नापने के लिये किसी वास्तुविद् की भाँति कुङ्कुम से रंगे सूत के द्वारा रेखाएं खींच दी हों। यहाँ स्थायी भाव रति है। प्रेमी व प्रेमिका परस्पर आलम्बन विभाव

---

१. द्विस.,१५.२०
२. वही,१७।७९

हैं। उपवन, चन्द्र-कान्ति, समीर आदि उद्दीपन विभाव हैं। हर्ष, उन्माद, औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भाव हैं। आलिङ्गन, नखक्षत आदि अनुभाव हैं। रोमाञ्च, स्वेदादि सात्विक भाव आक्षिप्त हैं जिनके सहयोग से सम्भोग शृङ्गार आस्वादित हो रहा है।

दोलाक्रीडा

कुचयुगमतुलं कुतोऽस्य भारः किल भवतीति तुलाधिरोपणाय।
सह तुलयितुमात्मनोद्यतेव क्षणमपरा व्यलगीत्प्ररोहदोलाम् ॥[१]

प्रस्तुत उदाहरण में कवि धनञ्जय ने वन-विहार करते हुए प्रेमी-युगलों में से झूलती विलासिनी प्रेमिका का अत्यन्त मनोहारी वर्णन किया है। वह विलासिनी अपने निरुपम स्तनों को अपनी ही काया के साथ तोलने के लिये और इस स्तन-युगल का भार किस कारण से होता है— यह निश्चय करने के लिये ही दोनों को तुला पर रखने के प्रयोजन से क्षण भर के लिये लटकते हुए वट के प्ररोहों पर झूल गयी थी। यहाँ स्थायी भाव रति है। विलासिनी प्रेमिका आलम्बन है। आश्रय प्रेमी आक्षिप्त है। उपवन, वनविहार तथा दोलाक्रीडा उद्दीपन विभाव हैं। हर्ष, उन्माद, चपलता, औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भाव हैं। रोमाञ्च आदि सात्विक भाव हैं। इनसे सम्भोग शृङ्गार की अनुभूति हो रही है।

पुष्पावचय

निकटसुलभमुद्गमं विहाय श्लथबलिनीव विदूरगं ललङ्घे।
प्रथयितुमुदरं परा स्त्रिया हि प्रियतमविभ्रमगन्धनोऽन्यसङ्गः ॥[२]

यहाँ वन-विहार के प्रसंग में नायिकाओं द्वारा विभिन्न प्रकार के पुष्प तोड़े जाने के वर्णन में एक नायिका का हृदयहारी चित्रण प्रस्तुत है। इस कामिनी ने समीप ही विकसित सुलभ पुष्प को छोड़कर बहुत ऊपर खिले हुए पुष्प को तोड़ने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न के लिये उसे अपनी नीवी शिथिल करनी पड़ी, ऐसा प्रतीत होता था जैसे अपने प्रिय वल्लभ को अपनी कृश कटि दिखाने का प्रयत्न कर रही हो। यहाँ रति स्थायी भाव है। नायिका आलम्बन विभाव है और प्रिय वल्लभ आश्रय है। उपवन, वनविहार, नायिका की चेष्टाएं उद्दीपन विभाव हैं। हर्ष, उन्माद,

---

१. द्विस.,१५.१२
२. वही,१५.१०

चपलता आदि व्यभिचारी भाव हैं। कटि-दर्शन आदि अनुभाव हैं। रोमाञ्च आदि सात्विक भाव हैं जिनसे सम्भोग शृङ्गार आस्वादित हो रहा है।

सलिलक्रीडा

अधिजलमधिकुङ्कुमं बभौ करधृतमङ्गनया स्तनद्वयम्।

कनककलशयुग्ममम्भसि स्मरमभिषेक्तुमिवावतारितम्॥[१]

प्रस्तुत प्रसंग में कवि धनञ्जय सलिलक्रीडा के लिये पानी में उतरती हुई नायिकाओं का अनुपम वर्णन करते हैं। पानी में उतरती हुई नायिकाओं ने अपने-अपने स्तनों को कुङ्कुम से रंगे हाथों द्वारा इस प्रकार सम्हाल लिया था कि ऐसी प्रतीति होती थी जैसे यह स्तनों की जोड़ी न होकर कामदेव के अभिषेक के लिए पानी में डुबाये गये कुङ्कुम-चर्चित दो सोने के सुन्दर कलश हों। यहाँ स्थायी भाव रति है। नायिका आलम्बन विभाव है और कामदेव के उपलक्षण से उपलक्षित नायक आश्रय है। समुद्र, नदी, सलिल क्रीड़ा आदि उद्दीपन विभाव हैं। हर्ष, उन्माद, चपलता आदि व्यभिचारी भाव हैं। स्तनों को कुङ्कुम चर्चित हाथों से स्पर्श करना आदि अनुभाव हैं। रोमाञ्च आदि सात्विक भाव हैं जिनसे सम्भोग शृङ्गार की अभिव्यक्ति हो रही है।

द्विसन्धान-महाकाव्य का सलिलक्रीडा वर्णन पर्याप्त लम्बा है, किन्तु रस-परिपाक की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। धनञ्जय ने एक स्थान पर सलिलक्रीडा की सुरत-लीला से तुलना की जो दर्शनीय है–

परिहृषितमुखं कुचद्वयं दधदधरोऽपि बभूव पाण्डुताम्।

श्लथितमथ विलेपनाञ्जनं निधुवनमन्वहरज्जलप्लवः॥[२]

यहाँ जलक्रीडा को सुरत-लीला का अनुकरण बताया गया है। कारण यह है कि सुरत-लीला की भाँति जलक्रीडा से नायिकाओं के कुच-कलशों के मुख विकसित हो गये थे, दोनों ओंठ सफेद पड़ गये थे, शरीर पर मला गया शालिचूर्ण का लेप धुल गया था तथा आंखों का अंजन आदि भी फीका पड़ गया था।

---

१. द्विस.,१५.३९

२. वही,१५.४४

चन्द्रोदय

चन्द्र की कामोत्तेजकता कवि समाज में प्रसिद्ध ही है। सम्भोग शृङ्गार में चन्द्र सुप्त-काम को जाग्रत कर कामियों का मित्रवत् प्रिय उपकार करता है। कामदेव ऐसे ही समय में उन्हें अपने शस्त्रों का लक्ष्य बनाता है—

प्रतिमितविधुबिम्बसीधुपानादिव वदनं विशदारुणं वधूनाम्।
श्रमजललुलितभ्रूकोपशङ्कानतशिरसः किल कामिनश्चकार॥[१]

इस प्रसंग में धनञ्जय कहते हैं कि चन्द्रमा की परछाईं पड़ने से निर्मल कान्तियुक्त तथा मदिरा पीने से लाल एवं थकान के पसीने से गीली-गीली भृकुटि युक्त वधुओं के झुके हुए मस्तक को देखकर कामिजनों को ऐसा प्रतीत हुआ कि वे रुष्ट तो नहीं हो गयी हैं। यहाँ रति स्थायी भाव है। प्रेमी व प्रेमिका परस्पर आलम्बन विभाव हैं। उपवन, मद्यपान, नायिका की चेष्टाएं उद्दीपन विभाव हैं। हर्ष, उन्माद, औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भाव हैं। रोमाञ्च, स्वेद आदि सात्विक भाव हैं जिनसे सम्भोग शृङ्गार अभिव्यक्त हो रहा है।

सम्भोग शृङ्गार की अभिव्यक्ति में चन्द्र अथवा चन्द्रोदय का क्या स्थान है?—इसका अनुमान एक अन्य स्थल पर चन्द्रोदय देखकर रूठी हुई प्रेमिकाओं की मनःस्थिति से लगाया जा सकता है—

न विधुः स्मरशस्त्रशाणबन्धः स्वयमेष स्फुरिताश्च ता न ताराः।
मदनास्त्रनिशानवह्निशल्कप्रचयोऽसाविति मानभिश्चकम्पे॥[२]

प्रस्तुत उद्धरण में कवि कल्पना करता है कि रूठी हुई कामिनियाँ चन्द्रोदय को देखकर काँप उठीं और सोचने लगीं कि यह चन्द्रमा नहीं है अपितु कामदेव के अस्त्रों पर धार रखने के लिये शाण का चक्र है। आकाश में ये तारे नहीं खिले हैं, बल्कि मदन के अस्त्रों को (चन्द्र रूपी) शाण पर चढ़ाने से उड़े हुए अग्नि के पतंगों का समूह ही है।

---

१. द्विस., १७.५८
२. वही, १७.४९

कामक्रीड़ा

सन्धान-कवि धनञ्जय ने अपने द्विसन्धान-महाकाव्य में सतरहवाँ सम्पूर्ण सर्ग कामक्रीड़ा वर्णन के लिये समर्पित किया है। यहाँ तक कि इस सर्ग का नामकरण भी 'रात्रिसम्भोग-वर्णन' किया है। इस सर्ग में वर्णित शृङ्गार के कतिपय उल्लेखनीय उद्धरण इस प्रकार हैं—

विलोकभावेषु सहस्रनेत्रतां चतुर्भुजत्वं परिरम्भणेऽभवत्।
समागमे सर्वगतत्वमिच्छवः सुदुर्लभेच्छाकृपणा हि कामिनः॥[1]

प्रस्तुत वर्णन में कवि कामोद्वेलित प्रेमी की मनःस्थिति का चित्रण करते हुए कहता है कि कामी पुरुष स्तन, जंघा आदि उद्दीपन भावों को देखने के लिये हजारों आँखें चाहने लगे थे। आलिङ्गन करते समय दो भुजाओं से तृप्ति न होने के कारण चार भुजाएं चाहते थे और समागम के समय उद्यान, गुल्म, नदी-तीर आदि सब स्थानों पर जाना चाहते थे। इस प्रकार कामार्त्त प्रेमीजन उक्त इच्छाओं के माध्यम से मानो इन्द्रत्व, विष्णुत्व तथा सर्वव्यापकत्व—गुणों की इच्छा करने लगे थे। केवल कामी पुरुष ही नहीं, भोग-क्रिया रत स्त्रियाँ भी लज्जा को छोड़कर अपने अबला विशेषण को सबला में परिवर्तित कर रही थीं—

प्रथममधरे कृत्वा श्लेषं व्रणं निदधे वधू-
रतिविनिमयः प्रीतेनायं कुतोऽप्यनुशय्यते।
स्वयमिति भयात्सत्यंकारं प्रदातुमिवोद्यता
ननु च सबलाः कृत्ये नाम्ना भवन्त्यबलाः स्त्रियः॥
चित्तं चित्तेनाङ्गमङ्गेन वक्त्रं वक्त्रेणांसेनांसमत्यूरुणोरुम्।
एकं चक्रुय सर्वमात्मोपभोगे कान्ताः पङ्क्तौ हन्त लज्जां ववञ्चुः॥[2]

प्रस्तुत प्रसंग में कवि धनञ्जय रतिकेलि का सजीव चित्रण करते हुए कहता है कि काम-क्रीडा के समय स्त्रियाँ सबला हो गयी थीं, अबला तो केवल नाममात्र के लिये ही थीं। इसीलिए प्रसन्न पतिदेव को सुरत-काल में उचित प्रतिफल देने की इच्छा से कामक्रीडा में सबला प्रेमिका ने स्वयं पति का आलिङ्गन कर उसका

---

१. द्विस., १७।७२
२. वही, १७।६९-७०

ओंठ काट लिया था। इतना ही नहीं भोगक्रिया में लीन उस कान्ता ने प्रिय के चित्त में चित्त, शरीर में शरीर, मुख में मुख, कन्धे पर कन्धा और जंघा से जंघा समस्त वस्तुओं को एकमेक कर दिया था। किन्तु, इस समस्त क्रिया में उसने लज्जा को साथ नहीं रखा अर्थात् उन्मुक्त रूप से सहवास का आनन्दभोग किया।

उक्त उद्धरणों में स्थायी भाव रति है। प्रेमी-प्रेमिका परस्पर आलम्बन विभाव हैं। स्तन, जंघाएं, ओष्ठ आदि उद्दीपन विभाव हैं। हर्ष, उन्माद, चपलता, औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भाव हैं। आलिङ्गन, चुम्बन आदि अनुभाव हैं। रोमाञ्च, स्वेदादि सात्विक भाव हैं। इनके सहयोग से पूर्ण सम्भोग शृङ्गार की अभिव्यञ्जना हो रही है।

मधुपान

स्वच्छवृत्ति रसिकं मृदु चार्द्रं तत्तथापि मधुमानवतीनाम्।
रूपयौवनमदस्य विकारैर्मत्तमत्तमिव विप्रललाप॥
मानो व्यतीतः कलहं व्यपेतं गतानि गोत्रस्खलितच्छलानि।
गुरून्प्रहारान्मधु सन्दधीत क्षतं पुनः कामिषु तत्क्रियद्वा॥[१]

प्रस्तुत प्रसंग में मधुपान का कामीजनों की कामक्रीडा पर क्या प्रभाव पड़ता है—इसका प्रभावशाली वर्णन कवि ने किया है। यद्यपि मदिरा अत्यन्त स्वच्छ थी, रसीली थी, कोमल थी और शीतल थी, तथापि मानवती नायिकाओं के सौन्दर्य, यौवन और अहंकार के आवेश के कारण अत्यन्त उन्मत्त के समान अनर्गल आलाप का कारण हुई थी। यह रोष धीरे-धीरे शान्त हो गया, कलह समाप्त हो गयी तथा दूसरे नायक-नायिका का नाम लेकर चिढ़ाने की प्रक्रिया भी नहीं चल सकी। मदिरा के आवेश में कामी युगल परस्पर पूरी शक्ति से उलझ रहे थे। ऐसी स्थिति में उन्हें दन्तक्षत और नखक्षत की चिन्ता भी नहीं रह गयी थी। यहाँ रति स्थायी भाव है। प्रेमी और प्रेमिका परस्पर आलम्बन विभाव हैं। मदिरापान, नायिका की चेष्टाएं आदि उद्दीपन विभाव हैं। हर्ष, उन्माद, चपलता, औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भाव हैं। दन्तक्षत, नखक्षत, उलझना आदि अनुभाव हैं। रोमाञ्च, स्वेदादि सात्विक भाव आक्षिप्त हैं। इनके सहयोग से सम्भोग शृङ्गार का परिपाक स्पष्टरूपेण हो रहा है।

---

१. द्विस.,१७.५९-६०

(२) विप्रलम्भ शृगार

सम्भोग शृङ्गार से विपरीत वियुक्त प्रेमी तथा प्रेमिका के व्यवहार से उत्पन्न शृङ्गार 'विप्रलम्भ शृङ्गार' कहलाता है ।[१] विप्रलम्भ शृङ्गार पूर्वराग, मान, प्रवास, एवं करुणात्मक राग से चार प्रकार का होता है । धनञ्जय कृत द्विसन्धान-महाकाव्य में विप्रलम्भ शृङ्गार सम्बन्धी निम्नलिखित विवरण उल्लेखनीय हैं—

(क) मान

प्राय: संस्कृत के महाकवियों ने विप्रलम्भ शृङ्गार के अन्तर्गत मान का बड़ा ही नैसर्गिक एवं जीवन्त चित्रण किया है । धनञ्जय ने भी अपने द्विसन्धान-महाकाव्य में असूया से उत्पन्न होने वाले 'मान-विप्रलम्भ' का अत्यन्त हृदय-स्पर्शी वर्णन किया है—

प्रशमय रुषितं प्रिये प्रसीद प्रणयजमप्यहमुत्सहे न कोपम् ।
तव विमुखतयाऽधिरूढचापे मनसिशये कुपिते कुतः प्रसादः ॥
मम यदि युवतिं विशङ्कसेऽन्यां श्वसिमि तव स्वसितैर्मृषान्ययोगः ।
भवतु मनसि संशयस्त्वमैक्यात्प्रविभजसे त्वयि जीवितं कथं मे ॥
न पुनरिदमहं करोमि जीवन्निति शपथेऽधिकृते पुराकृतं स्यात् ।
त्यज कुपितमितीरिते नु सत्यं कुपितवती भवसीव तन्न जाने ॥
बहुतिथमवलोक्य नाथमानं कलयसि सत्यमिमं कृतापराधम् ।
अनुदितवचनं नवप्रियं मां गणयसि गर्वितमन्यवारितं वा ॥[२]

प्रस्तुत प्रसंग में मानिनी नायिका का अतिस्वाभाविक चित्रण हुआ है । एक प्रेमी अपनी प्रिया के मान की तुष्टि के लिये उससे कहता है— हे प्रिये ! कोप को शान्त करो, प्रसन्न हो जाओ । मैं प्रणय की लड़ाई को भी सहन नहीं कर सकता । तुम्हारे मुख मोड़ लेने पर तथा मन में उत्पन्न कामदेव के धनुष चढ़ा लेने पर मेरी कुशलता असम्भव है । यदि तुम्हें मेरी किसी दूसरी प्रेमिका के होने का सन्देह है तो विश्वास रखो, मैं तुम्हारी साँस से ही जीवित हूँ, पर-सम्बन्ध असत्य है । मन का सन्देह त्याग दो । तुम से ही मेरा जीवन है । तुम अपने प्राणों में अन्तर्हित मेरे प्राणों

---

१. का.रु.,१२६
२. द्विस.,१५.२२-२५

को पृथक् क्यों करती हो ? ऐसा सम्भव है कि कभी भूल हुई हो । अब क्रोध छोड़ दो । जीते जी अब ऐसा अपराध कभी नहीं करूंगा । ऐसी शपथ ले लेने पर भी मैं यथार्थ नहीं जानता कि तुम किस कारण से कुपित हो । विविध प्रकार से अपनी प्रार्थना किये जाते हुए देखकर क्या तुम वास्तव में ही मुझको अपराधी समझती हो । मुझ जैसे नये प्रेमी से बोलती भी नहीं हो और मुझे ही अहंकारी तथा अन्य प्रेमिका द्वारा रोका गया सोचती हो । इस प्रकार प्रेमी द्वारा की जाने वाली मनौती से नायिका का अपरिमित मान स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हो रहा है ।

मान-खण्डन

संस्कृत काव्य साहित्य में मान-वर्णन के पश्चात् मान-खण्डन का लालित्यपूर्ण वर्णन भी प्रस्तुत किया जाता है । द्विसन्धान-महाकाव्य में भी परम्परा के अनुकूल मान-खण्डन का वर्णन प्रस्तुत किया गया है—

शिथिलय हृदयं न मेऽनुरागं विसृज विषादमिमं न तन्वि वाक्यम् ।
इति दयितमुपागमैकदौत्यं स्वयमबलाभिगतं कथञ्चिदैच्छत् ॥[१]

अभिप्राय यह है कि प्रेमी ने स्वयं ही दूत बनकर प्रिया को मनाया कि मन की गाँठ को तनिक ढीला करो, मेरी प्रगाढ़ प्रीति को नहीं । इस शोक को छोड़ो, अपनी प्रेम-प्रतिज्ञा को मत तोड़ो । स्वयं दूत बनकर आये हुए प्रेमी के इस प्रकार मनाने पर सरला नायिका ने बड़े नखरे के साथ उसको अङ्गीकार किया ।

सामान्यत: इस प्रकार के मान-खण्डन के प्रसंगों में प्रेमी प्रेमिका को मनाने के लिये दूती भेजता है । प्रेमिका उस दूती पर क्रोध करने के उपरान्त प्रेमी को अंगीकार करती है । द्विसन्धान के उक्त मान-खण्डन प्रसंग में प्रेमी ने अपना दौत्यकर्म स्वयं किया है, सम्भवत: इसीलिए वह खिन्न है । प्रेमिका भी उसकी इस स्थिति से सुपरिचित है, इसलिए वह उस पर क्रोध न कर, उसे खिजाती है—

मधुरमभिहितो न भाषते मां न खलु भवानभिचुम्बित: प्रणिंस्ते ।
न च परिरभते कृतोपगूढ़ पटलिखित: स्विदपेक्षते न दृष्ट: ॥[२]

प्रस्तुत प्रसंग में मानिनी नायिका ने मानभङ्ग होने के उपरान्त नायक को अङ्गीकार करते हुए किस प्रकार खिजाया, —इसका अत्यन्त प्रभावशाली चित्रण

---

१. द्विस., १५.२६
२. वही, १५.३०

हुआ है । नायिका नायक को खिजाते हुए कहती है कि क्या बात है कि रसीली बातें करने पर भी आप चुप हैं । विभिन्न प्रकार से चुम्बन करने पर भी आप मेरा चुम्बन नहीं करते । गाढ़ आलिङ्गन करने पर भी आप आलिङ्गन के लिये प्रवृत्त नहीं हो रहे । मेरी दृष्टि आप पर ही लगी हुई है किन्तु आपकी दृष्टि मेरी ओर घूमती ही नहीं है । ऐसा प्रतीत हो रहा है जैसे मैं आपको नहीं आपके चित्रपट को देख रही हूँ । इस प्रकार द्विसन्धान-महाकाव्य में मान-खण्डन का सजीव चित्रण हुआ है ।

(ख) करुण-विप्रलम्भ

संस्कृत काव्य-साहित्य में नायक अथवा नायिका की वियोगजन्य अवस्था के निरूपण को करुण-विप्रलम्भ माना गया है । कवि धनञ्जय ने करुण-विप्रलम्भ के सन्दर्भ में रावण द्वारा सीता का अपहरण कर लिये जाने पर सीता के वियोग में वियुक्त राम का वर्णन बड़ी प्रभावपूर्ण शैली में किया है—

कल्याणनिक्वणा वीणा श्रुती नृत्यं विलोचने ।
हरिचन्दनमप्यङ्गं तानि तस्य न पस्पृशुः ॥[१]

इस उद्धरण में धनञ्जय राम की विरहावस्था का वर्णन करते हुए कहता है कि वियोगी राम के कानों में वीणा की मधुर सांगीतिक ध्वनि नहीं पहुँच पाती है, उसके नेत्रों को मनोहारी नृत्य भी रुचिकर नहीं लगता है, और तो और, विरहावस्था के कारण उसने अपने शरीर पर हरिचन्दन का लेप करना भी छोड़ दिया है ।

एक अन्य प्रसंग में कवि ने रामदूत हनुमान अथवा कृष्णदूत श्रीशैल के मुख से लंका/राजगृह स्थित सुन्दर वन में बन्दी सीता/सुन्दरी के समक्ष राम/श्रीकृष्ण की विरहजन्य अवस्था का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है—

तवैव संदर्शनसंकथाः कथास्त्वयि प्रसक्ताः श्रुतयो दिवानिशम् ।
त्वयैव वाञ्छाः सहवासतत्परा विना त्वदुर्वीपतिरुन्मनायते ॥
सुनिचितमपि शून्यमाभासते परिजनविभवोऽपि सैकाकिता ।
अरुचिरभवदस्य लक्ष्मीमुखे त्वदभिगमनेन रिक्तं मनः ॥
अनुरहसमुपैति मन्त्रं मुहुः परमपि परिवृत्य नाथेत सः ।
असुषु वसुषु च व्ययं व्यश्नुते सपदि तव कृते न किं तत्कृतम् ॥

---

१. द्विस.,९.९

सुहृदयमसुदेयं प्रेम मेऽन्योन्ययोगात्-
सहजमुपकरिष्यत्यायतं हन्त यस्मिन्।
स्वयमुपनयमानं तत्कदाभाविता-
दृग्दिनमनुदिनमेवं ध्यायति त्वां नरेन्द्रः ॥[१]

यहाँ कवि सीता/सुन्दरी के समक्ष हनुमान/श्रीशैल के माध्यम से राम/श्रीकृष्ण की वियुक्तावस्था का चित्रण करते हुए कहता है कि हे सती ! राम या श्रीकृष्ण तुम्हारे अवलोकन का वर्णन करने वाली बातचीत ही करते हैं, दिन-रात तुमसे सम्बन्धित चर्चाएं ही सुनते हैं तथा तुम्हारे सहवास की ही कामना करते हैं। इस प्रकार वह तुम्हारे वियोग में उदास रहते हैं। लोगों से परिपूर्ण होने पर भी उन्हें शून्य-सा लगता है, विभव और परिजनों से घिरे रहने पर भी वे अपने-आप को एकाकी समझते हैं। सम्पत्ति और सुखों से उन्हें अरुचि हो गयी है तथा तुम्हारे वियोग से उनका मन रिक्त-सा हो गया है। एकान्त मिलते ही अपने आप से बोलने लगते हैं। बारम्बार घूम-फिरकर दूसरों से तुम्हारे विषय में पूछते हैं। क्षणभर में ही अपनी सम्पत्ति तथा प्राणों से विरक्त हो जाते हैं। हे देवि !राम/श्रीकृष्ण ने ऐसा कोई कार्य नहीं है, जो न किया हो। 'प्राण देकर भी पालनीय, स्वाभाविक और अपरिमित मेरा प्रेम एक-दूसरे से सहवास के द्वारा जिस दिन मेरे हृदय को तृप्त करेगा, हाय ! वह दिन किस वेला में अपने आप आयेगा ?' इस प्रकार राम /श्रीकृष्ण प्रतिदिन तुम्हारा ही ध्यान करते हैं। इस प्रकार के द्विसन्धानात्मक विरह-वर्णनों से द्विसन्धान-महाकाव्य में करुण-विप्रलम्भ का सुन्दर परिपाक हुआ है।

करुण रस

संस्कृत काव्यशास्त्र के अनुसार धन आदि के विनाश, प्रियजन के वियोग या विनाश रूप आलम्बन से तथा उनके गुण आदि के स्मारक उद्दीपनों से उद्बुद्ध अश्रुपात, विलाप, विवर्णता आदि अनुभावों से प्रतीति योग्य एवं निर्वेद, ग्लानि, दैन्य, चिन्ता, आवेग, मोह, भय, विषाद आदि व्यभिचारियों से परिपुष्ट शोकरूप स्थायी भाव 'करुण रस' कहलाता है।[२] करुण-विप्रलम्भ में पुनर्मिलन की आशा

---

१. द्विस.,१३.३९-४२
२. ना.शा.,पृ.८७

बनी रहती है, किन्तु करुण रस में उस आशा का अभाव होता है—यही दोनों में अन्तर है ।

सामान्यतः करुण रस में 'करुणा' का अनुकरण होता है । संसार में सदय सहृदयता ही 'करुणा' के नाम से प्रसिद्ध है । यह सम्मुख होने वाले रुदन आदि लिङ्गों के द्वारा अनुकर्ता में विद्यमान शोक का अनुभव करने वाले सामाजिक या प्रेक्षक में वर्तमान रहती है । इसी कारणवश इसका 'करुण रस' अभिधान सार्थक है ।

धनञ्जय विरचित द्विसन्धान-महाकाव्य में अङ्गरूप से करुण रस का सफल निबन्धन हुआ है । कवि ने अपनी हृदयस्पर्शी काव्यात्मक शैली में राम/युधिष्ठिर के निर्वासन काल का वर्णन किया है—

अपि चीरिकया द्विषोऽभवन्ननु चामीकरदाश्च्युतौजसः ।
कुसुमैरपि यस्य पीडना शयने शार्करमध्यशेत सः ॥
घनसारसुगन्ध्ययाचितं हृदयज्ञैश्चषकेऽम्बु पायितः ।
स विमृग्य वनेष्वनापिवानटनीखातसमुत्थितं पपौ ॥[१]

प्रस्तुत प्रसंग में कवि ने राम/युधिष्ठिर के राज्यकाल तथा निर्वासन काल का तुलनात्मक वर्णन बड़े ही रोचक ढंग से किया है कि किस प्रकार वह अपने राजकीय वैभव में अतिकोमल शय्या, असंख्य परिचारकों, जो बिना कहे ही उसकी इच्छाओं की पूर्ति कर देते थे, की सेवा का आनन्द उठाते थे और अब वही निर्वासन काल में मरुस्थल की रेत पर सोते हैं । यहाँ तक कि जीवन की मूलभूत आवश्यकता पेय जल की उपलब्धि न होने पर उसे जमीन खोदकर प्राप्त करते हैं । यहाँ स्थायी भाव शोक है । निर्वासन, राज्य-वैभव आदि का छूट जाना आलम्बन विभाव है । राज्यकाल के वैभवों की स्मृति, मरुस्थल के रेत पर सोना, जल आदि न मिलने पर जमीन खोदना आदि उद्दीपन विभाव हैं । विवर्णता आदि अनुभाव आक्षिप्त हैं । दैन्य, चिन्ता, आवेश, विषाद आदि व्यभिचारी भाव हैं । इनके सहयोग से 'करुण रस' की विशद अभिव्यक्ति हो रही है ।

---

१. द्विस., ४.३९-४०

रौद्र रस

रौद्र रस 'क्रोध' स्थायी भाव से उद्भूत होकर शत्रु की विभिन्न उत्तेजक चेष्टाओं से उद्दीप्त होता है। इसीलिए शत्रु का आलम्बन रूप में वर्णन किया जाता है। इसका विशेष उद्दीपन घर्षण, अधिक्षेप, अपमान, अनृतवचन, वाक्पारुष्य, अभिद्रोह, मात्सर्य आदि भावों से होता है।[१] भृकुटि-भङ्ग, दाँत तथा ओंठ चबाना, भुजाएं फड़काना, ललकारना, आरक्त नेत्र, स्वकृत वीर कर्म वर्णन,शस्त्रोत्क्षेपण, आक्षेप, क्रूर दृष्टि आदि इसके अनुभाव हैं। उग्रता, आवेग, रोमाञ्च, स्वेद, कम्प, मद, मोह, अमर्ष आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं।[२]

सामान्यत: क्रोध के उद्दीपन के लिये दु:ख और उसके कारण का बोध होना अत्यावश्यक है। इनके ज्ञानाभाव में वह उद्दीप्त नहीं हो सकता। यदि तीन अथवा चार मास की आयु के एक बालक को थप्पड़ मार दिया जाये, तो वह क्रोधित नहीं हो सकता। कारण यह है कि वह इससे उत्पन्न पीड़ा और थप्पड़ के सम्बन्ध को नहीं जानता। वह केवल रोकर ही अपनी पीड़ा को अभिव्यक्त कर सकता है।

द्विसन्धान-महाकाव्य में राजपरिवारों की कथा का गुम्फन हुआ है, इसीलिए क्रोध भी शासकीय परिप्रेक्ष्य में उपलब्ध होता है। पंचम सर्ग में सूर्पणखा तथा लक्ष्मण/कीचक और भीम के मध्य घटी घटना का विलक्षण चित्रण हुआ है। लक्ष्मण द्वारा आहत होने के उपरान्त सूर्पणखा क्रोध से आगबबूला हो जाती है। वह सुन्दर युवती वाली अपनी पात्रता को भूलकर लक्ष्मण को अपने योद्धा पति खर-दूषण के विषय में सूचित करके चुनौती देती है। पक्षान्तर में, कीचक युद्ध-स्थलगत व्यूहरचना तथा युक्तिकौशल सम्बन्धी अपनी सफलताओं को स्मरण करते हुए भीम को धमकाता है तथा आक्षेपपूर्वक उसे इस समस्त विद्या को सीखने का आमन्त्रण देता है—

नापत्यघातं प्रतियुज्य वाचा बहुप्रलापिन्नपयाति जीवन्।
भवानभिज्ञ: खरदूषणस्य नाद्यापि युद्धेषु पराक्रमस्य॥[३]

---

१. द्रष्टव्य—ना.शा., पृ.८७
२. सा.द.,३.२२७-३०
३. द्विस.,५.२८

प्रस्तुत उद्धरण में क्रोध स्थायी भाव है। लक्ष्मण अथवा भीम आलम्बन है तथा सूर्पणखा/कीचक आश्रय है। लक्ष्मण/भीम का सूर्पणखा/कीचक को प्रताड़ित करना उद्दीपन विभाव अनुवृत्त हैं।भृकुटि-भङ्ग, ओंठ चबाना, आरक्त नेत्र ललकारना, स्वकृत वीर कर्म वर्णन, आक्षेप, क्रूर दृष्टि आदि अनुभाव हैं। उग्रता, आवेग, रोमाञ्च, कम्प, मद आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनके सहयोग से यहाँ रौद्र रस आस्वादित हो रहा है।

एक अन्य प्रसंग में कवि धनञ्जय अपने प्रायिक काव्याडम्बर में शत्रु लक्ष्मण/श्रीकृष्ण की अतिसमीपता का समाचार प्राप्त होने पर रावण/जरासन्ध के हृदय में उठते क्रोध का वर्णन करता है—

ततः समीपे नवमस्य विष्णोः श्रुत्वा बलं संभ्रमदष्टमस्य।

क्रुधा दशन्नोष्ठमरिं मनःस्थं गाढं जिघत्सन्निव संनिगृह्य॥

तद्दंशभीताधररागसङ्गादिवारुणाक्षस्तदुपाश्रयेण।

पिङ्गयोर्भ्रुवोरुद्गतधूमराजिर्नभ्राडिवेन्द्रायुधमध्यकेतुः॥[१]

अर्थात् समुद्र पार करने के उपरान्त लंका की ओर बढ़ती हुई आठवें विष्णु अर्थात् लक्ष्मण की नूतन सेना के निकट आ पहुँचने का समाचार सुनकर रावण ने अथवा गंगा पार करने के उपरान्त राजधानी के निकट पहुँची और भय के साथ देखी गयी नौवें विष्णु अर्थात् श्रीकृष्ण की सेना का सन्देश मिलते ही जरासन्ध ने क्रोध से ओंठ चबा लिये। मानो मन में बैठे शत्रु राम अथवा कृष्ण को जोर से ओठों में बन्द करके मार डालना चाहता था। रावण/जरासन्ध के दंश के भय से ओठों की लालिमा आँखों में पहुँच गयी थी। क्रोध से जलती आँखों के निकट होने से भृकुटियाँ धूम्ररेखा के समान तन गयी थीं तथा नेत्रों की झाँकी बिना बादलों के चमकती बिजली में धूम्रकेतु के समान लगती थी। यहाँ स्थायी भाव क्रोध है। लक्ष्मण/श्रीकृष्ण आलम्बन विभाव है तथा रावण/जरासन्ध आश्रय है। लक्ष्मण/श्रीकृष्ण की सेना का समीप पहुँचना, मात्सर्य आदि उद्दीपन विभाव हैं। भृकुटि-भङ्ग, ओंठ चबाना, आरक्त नेत्र आदि अनुभाव हैं। उग्रता, आवेग, रोमाञ्च, मद आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनके सहयोग से रौद्र रस की अभिव्यक्ति हो रही है।

---

१. द्विस., १६.१-२

इसी प्रकार धनञ्जय ने नैतिक विलक्षणता के प्रसङ्ग में भी रौद्र रस का सुन्दर समन्वय किया है। मानवीय प्रतिक्रियाओं का गहन ज्ञान रखने वाले कवि धनञ्जय ने राम/कृष्ण दूत हनुमान/श्रीशैल द्वारा सीता को वापिस लौटाने के लिये अथवा कृष्ण के साथ न लड़ने के लिये कहे जाने पर रावण/ जरासन्ध के क्रोध का अत्यन्त प्रभावपूर्ण ढंग से वर्णन किया है—

इत्युक्तेऽस्मिन्पादमुपात्तं मणिपीठात्
प्रापय्योरुं सव्यगतासिस्थितदृष्टिः।
न्यस्यन्नक्ष्णोरिन्द्रियवर्गं सकलं तु
क्षोभात्कायं कोपविवृत्तिं गमयन्नु॥
सभ्रूयुग्मं वैरिविरुद्धं घटयन्नु
स्विद्यन्क्रोधक्वाथितलावण्यरसो नु।
रुद्धः स्थित्वाधोरणमुख्यैर्द्विरदो नु
प्रोचे विष्णोरित्यरिरग्निं विवमन्नु॥[१]

प्रस्तुत प्रसंग में अपमान, वाक्पारुष्य, मात्सर्य आदि उद्दीपन विभावों से क्रोध स्थायी भाव उद्भूत हुआ है। दूत हनुमान/श्रीशैल आलम्बन विभाव है तथा रावण/जरासन्ध आश्रय है। भृकुटि-भङ्ग, ललकारना, आरक्त नेत्र, आक्षेप,क्रूर दृष्टि आदि अनुभाव हैं। उग्रता, आवेग, रोमाञ्च, स्वेद आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनके सहयोग से रौद्र रस की अभिव्यञ्जना हुई है।

सामान्यतः ऐसा माना जाता है कि क्रोध की मूल प्रवृत्ति समाज के लिये अत्यावश्यक है। यदि एक व्यक्ति विरोध किये बिना अन्य पुरुष की क्रूरता को सहता रहे तो दुष्ट व्यक्ति न तो कभी अपना दोष मानेगा और न ही उन्हें सुधारेगा। समाज में यदि कोई मनुष्य किसी अन्य के प्रति दुष्टता करता है तो उसे दण्ड मिलना ही चाहिए। इस प्रकार का एक सुन्दर उदाहरण धनञ्जय कृत द्विसन्धान में उपलब्ध होता है, जिसमें साहसगति के अन्याय की ओर संकेत किया गया है। कवि ने राम के क्रोध और उसकी योद्धा जैसी सामर्थ्य का रोचक वर्णन किया है और चित्रित किया है कि शत्रु को कैसे वश में किया जाता है। इस प्रसंग में राम की यम से

---

१. द्विस.,१३.२१-२२

तुलना करते हुए उसे अधिक शक्तिशाली तथा ग्रीष्म, अग्नि और सूर्य से भी अधिक ऊष्म बताया है—

पश्यन्निव पुरः शत्रुमुत्पतन्निव खं मुहुः ।

निगिलन्निव दिक्चक्रमुद्गिलन्निव पावकम् ॥

संहरन्निव भूतानि कृतान्तो विहरन्निव ।

ग्रीष्माग्न्यर्कपदार्थेषु चतुर्थ इव कश्चन ॥[१]

इसी प्रकार कवि धनञ्जय ने सूर्पणखा/कीचक के अशिष्ट व्यवहार के कारण लक्ष्मण/भीम में उत्पन्न क्रोध का भी निरूपण किया है—

अभ्येत्य निर्भर्त्स्य जगाद वाचं स्त्रीत्वं परागच्छ न वध्यवृत्तिः ।

प्रेङ्खोलिताङ्गं रसनाकरेण मृत्योर्द्विजान्दोलनमिच्छसीव ॥[२]

प्रस्तुत प्रसंग में सूर्पणखा राम की ओर बढ़ने में असफल होने पर लक्ष्मण की ओर प्रवृत्त हुई, जबकि कीचक द्रौपदी की ओर प्रवृत्त हुआ और इस कर्म ने लक्ष्मण/भीम को कुपित कर दिया । कवि ने विचक्षणता से लक्ष्मण/भीम की उक्ति 'यम के शरीर को झकझोर कर जिह्वारूपी हाथ से उसके दाँत उखाड़ने जैसी नीचता क्यों की है । ?' में अद्‌भुत कल्पना समायोजित की है ।

भयानक रस

संस्कृत महाकवियों ने अपने महाकाव्यों में भयानक रस को गौण रूप में स्वीकार किया है । धनञ्जय भी द्विसन्धान-महाकाव्य में इसी परिपाटी का अनुकरण करते हैं । भयानक रस का स्थायीभाव 'भय' है । भर्त्सनापूर्ण स्थिति से दूर रहने की आग्रहपूर्ण इच्छा ही भय है । भौतिक रूप से भय चाहे वास्तविक हो या काल्पनिक, इसके साथ व्यक्ति अपने आपको भलीभाँति अनुकूल नहीं कर पाता अथवा समुचित रूप से व्यवहार करने में असमर्थ पाता है । इसीलिए भयोत्पादक दृश्य भयानक रस के आलम्बन विभाव हैं । विवर्णता, गद्गद भाषण, प्रलय, स्वेद, रोमाञ्च, कम्प, इतस्ततः अवलोकन आदि इसके अनुभाव हैं । जुगुप्सा, आवेग,

---

१. द्विस.,९.३१-३२

२. वही,५.२३

सम्मोह, संत्रास, ग्लानि, दीनता, शंका, अपस्मार, संभ्रम, मरण आदि इसके व्यभिचारी भाव होते हैं।[१]

कवि धनञ्जय के 'द्विसन्धान-महाकाव्य' में यत्र-तत्र भयानक रस के उदाहरण मिलते हैं। छठे सर्ग में सन्धान-विधा के माध्यम से एक ओर तो राम-लक्ष्मण और खर-दूषण के मध्य तथा दूसरी ओर अर्जुन-भीम तथा कौरव सेना के मध्य युद्ध की भीषणता में भयानक रस का ग्रथन हुआ है। कवि ने अतिशयोक्ति अलंकार की सहायता से वर्णन किया है कि किस प्रकार ज्या की टङ्कार-ध्वनि से गरुड़ की ध्वनि का भय हो जाने से नागपत्नियों के गर्भपात हो गये और नभचरों को भी ऐसा दारुण भय हुआ कि तलवार को मियान से निकालने का प्रयास करते-करते ही उन्हें यह विश्वास हो गया कि वे केवल मन्त्र-बल से ही शत्रु पर विजय पा सकते हैं। युद्ध की भीषणता ऐसी थी, जैसे कि सभी दिशाएं धूमकेतु से प्रभावित हो गयी हों। शस्त्र-संघर्ष से उत्पन्न धूसर प्रकाश-रेखाओं की पके हुए धान्य की बालों तथा यम की लम्बी तथा टेढ़ी जटाओं से उपमा करना नूतन एवं मनोहारी है—

पतत्रिनादेन भुजङ्गयोषितां पपात गर्भः किल तार्क्ष्यशङ्क्या।
नभश्चरा निश्चितमन्त्रसाधना वने भयेनास्यपगारमुद्यताः॥
समन्ततोऽप्युद्गतधूमकेतवः स्थितोर्ध्वबाला इव तत्रसुर्दिशः।
निपेतुरुल्काः कलमाग्रपिङ्गला यमस्य लम्बाः कुटिला जटा इव॥[२]

यहाँ युद्ध की भीषणता से उत्पन्न 'भय' स्थायी भाव है। दोनों पक्षों में होने वाला युद्ध आलम्बन विभाव है तथा नागपत्नियाँ, नभचर आदि आश्रय हैं। युद्ध की भीषणता उद्दीपन विभाव है। नागपत्नियों के गर्भ गिर जाना, नभचरों का मन्त्रबल पर ही विश्वास रह जाना आदि अनुभाव हैं। आवेग, सम्मोह, संत्रास, दीनता, संभ्रम आदि व्यभिचारी भाव हैं। इनके सहयोग से भयानक रस का परिपाक हुआ है।

एक अन्य स्थान पर कवि युद्धोन्मत्त, ओंठ चबाते हुए, भृकुटियों को टेढ़ा करते हुए तथा जोर-जोर से हुंकार करते हुए योद्धाओं से युक्त युद्ध-दृश्य का वर्णन करता है—

---

१. द्रष्टव्य - ना.शा., पृ.८९ तथा सा.द., ३.२३५-३८
२. द्विस., ६.१६-१७

दष्टदन्तच्छदं बद्धभ्रूभङ्गं मुक्तहुङ्कृति।
ग्रहाविष्टमिवानिष्टं घोरं युद्धमिहाभवत् ॥[१]

यहाँ स्थायी भाव 'भय', किष्किन्धा/सौराष्ट्र सेना रूप आलम्बन के माध्यम से, ओंठ चबाना, भृकुटि टेढी करना, हुंकार करना आदि उद्दीपनों से परिपुष्ट होता हुआ भयानक रस के रूप में आस्वादित होता है।

धनञ्जय विरचित द्विसन्धान-महाकाव्य के एक अन्य प्रसंग में राम/कृष्ण की सेनाओं द्वारा अपने प्रतिपक्षी रावण/जरासन्ध के विरुद्ध की गयी भयोत्पादक विनाशलीला का वर्णन किया गया है—

पतितसकलपत्रा तत्र कीर्णारिमे-
दावनततिरिव रुग्णा सामजैर्भूमिरासीत्।
निहतनिरवशेषा स्वाङ्गशेषावतस्थे-
कथमपि रिपुलक्ष्मीरेकमूला लतेव ॥[२]

प्रस्तुत प्रसंग में कवि न टूटे-फूटे रथों से व्याप्त तथा शत्रु-योद्धाओं की चर्बी से लथपथ युद्धभूमि का चित्रण किया है। उसने इस दृश्य की जंगली हाथियों द्वारा उजाड़ी गई अटवी से तुलना की है। समस्त सेना के नष्ट हो जाने पर शत्रुओं की लक्ष्मी अपनी मूल मात्र के सहारे सीधी खड़ी प्रतीत होती है, जैसे कि समस्त पत्तों और फल-फूल के नष्ट हो जाने पर एक लता का अस्तित्व केवल उसकी जड़ पर ही आश्रित रह जाता है। कवि ने यहाँ शत्रु राजा रावण/जरासन्ध का नामोल्लेख न करके केवल शत्रुओं की लक्ष्मी कहकर ही अपना मन्तव्य प्रस्तुत कर दिया है। इस प्रकार कवि-कल्पना उसके द्वारा प्रयुक्त यथोचित विशेषणों से द्विगुणित हो गयी है।

बीभत्स रस

घृणित अथवा घृणोत्पादक वस्तुओं के दर्शन अथवा श्रवण से मानव मन मे जो घृणा की भावना उत्पन्न होती है, वही बीभत्स रस की उत्पादिका है। वस्तुतः 'जुगुप्सा' स्थायी भाव की अभिव्यञ्जना ही 'बीभत्स रस' है। प्राणियों को कतिपय

१. द्विस., ९.४६
२. वही,१६.८५

विषय रुचिकर लगते हैं तथा उनसे अतिरिक्त अरुचिकर। इन अरुचिकर विषयों को ही अपनी दृष्टि या विचार से दूर रखने की प्रेरणा देने वाला भाव घृणा अथवा जुगुप्सा कहलाता है। बीभत्स रस का वर्ण नील है। इसके देवता महाकाल हैं। इसके आलम्बन दुर्गन्धमय मांस, रक्त, मेदा या चर्बी आदि हैं। दुर्गन्धमय मांसादि में कीड़े पड़ना इसका उद्दीपन विभाव है। थूकना, मुख फेरना, नेत्र बन्द करना इसके अनुभाव हैं और मोह, अपस्मार, आवेग, व्याधि तथा मरण आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं।[१]

बीभत्स रस शृङ्गार, करुण की भाँति आह्लादकारी न होने के कारण कवियों को विशेष प्रिय नहीं रहा है। महाकाव्यों में उसका वर्णन स्फुट रूप में ही प्राप्त होता है। कवि धनञ्जय ने अपने द्विसन्धान-महाकाव्य में राम-लक्ष्मण व खर-दूषण अथवा भीम-अर्जुन व कौरव-सेनाओं के मध्य होने वाले युद्ध की परिणति के वर्णन में इस रस के भयावह दृश्य का चित्रण किया है। कवि वर्णन करता है कि किस प्रकार राक्षसों की पंक्तियाँ राघव/पाण्डव राजाओं की अक्षरशः सत्य महामानवता की प्रशंसा करती हुई यथेच्छ रूप से मृत योद्धाओं का रक्त श्वेत कपालों में भरकर पी रही थीं। कवि ने यह भी वर्णन किया है कि किस प्रकार राक्षस-स्त्रियाँ अपने बच्चों को अपने फैले हुए पैरों पर बैठाकर मृत योद्धाओं की चर्बी से घोल बनाकर अपनी अंगुलि से धीरे-धीरे खिला रही थीं। इस उदाहरण में कवि ने बड़ी चतुराई से वास्तविक घृणात्मक दृश्य का चित्रण किया है—

निपीय रक्तं सुरपुष्पवासितं सितं कपालं परिपूर्य सूनृताम्।
नृतां प्रशंसन्त्यनयोर्ननर्त्तवाननर्तवाचोर्युधि रक्षसां ततिः॥
प्रसार्य पादवधिरोप्य बालकं विधाय वक्रेऽङ्गुलिषङ्गमङ्गना।
प्रवेशयामास वसां महीक्षितां प्रकल्प्य पीथं पिशिताशिनां शनैः॥[२]

प्रस्तुत प्रसंग में कवि हृदय में विद्यमान जुगुप्सा स्थायी भाव है तथा पाठकगण आश्रय हैं। आलम्बन युद्ध-भूमि है, जहाँ मृत योद्धा राजा पड़े हुए हैं। श्वेत कपालों में भरकर रक्त पीती हुई राक्षस पंक्तियाँ तथा अपने बच्चे को मुख में अंगुलि डालकर चर्बी का घोल पिलाती हुई राक्षस स्त्रियाँ उद्दीपन हैं ।आक्षेप से

---

१. ना.शा., पृ.८९ तथा सा.द., ३.२३९-४१
२. द्विस., ६.३७-३८

थूकना, मुंह फेरना आदि अनुभाव हैं तथा ग्लानि, आवेग आदि संचारी भाव हैं। इन सभी विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों के संयोग से 'बीभत्स रस' परिपुष्ट हुआ है।

शान्त रस

तत्त्व-ज्ञान तथा वैराग्य से 'शान्त रस' की उत्पत्ति मानी गयी है। इसी कारणवश इसमें सांसारिक विषयों से सम्बद्ध किसी भी प्रकार की भावना, आनन्द, सुख, दु:ख, प्रेम, लाभ, हानि इत्यादि का नितान्त अभाव रहता है। शान्त अनुभूति को रस स्वीकार करने में भारतीय काव्यशास्त्रियों में पर्याप्त मतभेद दिखायी पड़ता है। यहाँ तक कि भरत के नाट्यशास्त्र में भी शान्त रस का स्पष्ट उल्लेख नहीं है।

प्रधानत: काव्य का मुख्य उद्देश्य कलात्मक सुख माना गया है, न कि धर्मोपदेश। फिर भी, कुछ धर्म-प्रचारक ऐसे हुए, जिन्होंने काव्य को अपने धर्म-प्रचार का माध्यम बनाया। इस प्रकार की विभूतियों में बौद्ध कवि अश्वघोष तथा पउमचरिय के जैन लेखक विमलसूरि का नाम प्रख्यात है। कालान्तर में ये दोनों धर्म ऐसे काव्यों के स्रोत हो गये, जिनमें परम्परा से स्वीकृत कोई भी रस आधिपत्य न रख पाया। इस प्रकार के काव्यों अथवा महाकाव्यों में शान्त रस को प्रमुखता मिली। सम्भवत: यही कारण ऐसा रहा हो कि परवर्ती काव्यशास्त्रियों को शान्त रस की सत्ता स्वीकार करनी पड़ी हो।

शान्त रस के समर्थक काव्याचार्यों के अनुसार शान्त रस वह है जिससे 'शम' रूप स्थायी भाव का आस्वाद होता है। इसके आश्रय उत्तम प्रकृति के व्यक्ति होते हैं। इसका वर्ण कुन्द श्वेत अथवा इन्द्र श्वेत है। इसके देवता नारायण हैं। अनित्यता अथवा दु:खमयता के कारण समस्त सांसारिक विषयों की नि:सारता का ज्ञान अथवा साक्षात् परमात्मस्वरूप का ज्ञान ही इसका आलम्बन है। पवित्र आश्रय, भगवान् की लीला मूर्तियाँ, तीर्थ स्नान, रम्य कानन, साधु-सन्तों का सत्सङ्ग आदि इसके उद्दीपन हैं। रोमाञ्च आदि अनुभाव हैं और निर्वेद, हर्ष, स्मृति आदि व्यभिचारी भाव हैं।[१]

अधिकांश जैन महाकाव्यों का उद्देश्य मोक्ष-प्राप्ति रहा है। इसीलिए, इनके पात्र प्रारम्भ में सांसारिक भोगों मे लिप्त दिखाये जाते हैं, तदनन्तर महाकाव्य के अन्तिम भाग में पूर्णत: तटस्थ होकर मोक्ष-प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील दिखाये जाते

---

१. सा.द.,३.२४५-४८

हैं। धनञ्जय ने द्विसन्धान-महाकाव्य का उद्देश्य मोक्ष-प्राप्ति न रखकर, अर्थ-प्राप्ति रखा है, जो परम्परा से थोड़ा हटकर है। सम्भवत: यही कारण है कि कवि अपने महाकाव्य में शान्त रस के अंकन के लिये बहुत कम अवसर जुटा पाया है। द्विसन्धान के जिन अंशों में शान्त रस चित्रांकित हो पाया है, वे भौतिक वस्तुओं की क्षण-भङ्गुरता तथा भौतिक-सुखों की असारता के प्रसंग हैं। चतुर्थ सर्ग में कवि ने वर्णन किया है कि किस प्रकार दशरथ/पाण्डु वृद्धावस्था में अपनी छवि को दर्पण में देखकर वैराग्य को प्राप्त हो जाते हैं। उन्हें आश्चर्य होता है कि सभी प्राणी वृद्ध होते हैं और फिर देह त्याग देते हैं ।एक बार बीता हुआ यौवन कभी वापिस नहीं आता और ओस की बूंद के समान सभी भौतिक वस्तुएं क्षणभङ्गुर हैं। सभी सम्बन्धी भी सूखे पत्तों के समान एक झोंके में ही बिछुड़ जाने वाले हैं—

क्षणभङ्गुरमङ्गभङ्गिनां न गता यौवनिका निवर्तते।
विभवास्तृडवारिचञ्चला निचया मर्मरपत्रसन्निभा: ॥[१]

प्रस्तुत उद्धरण में राजा दशरथ/पाण्डु द्वारा दर्पण में दृष्ट वृद्धावस्था से हृदय में उत्पन्न वैराग्य का वर्णन है। अत: दशरथ/पाण्डु आश्रय है। भौतिक वस्तुओं की क्षणभङ्गुरता आलम्बन है। बीता हुआ यौवन, ओस की बूंद उद्दीपन हैं। निर्वेद संचारी भाव है। इन सबके माध्यम से 'शम' स्थायी भाव शान्त रस की पुष्टि कर रहा है।

कवि धनञ्जय एक अन्य स्थल पर समस्त भौतिक सुखों की असारता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि प्राणियों के भोग, लक्ष्मी और आयु—सभी वस्तुएं अस्थिर हैं। वह इन सब की अन्य वस्तुओं से तुलना करते हुए कहते हैं कि प्राणियों के प्रिय भोग गरजते हुए बादलों के समान चंचल हैं, लक्ष्मी हाथी के हिलते हुए सिर के समान है तथा आयु गायकों के मधुर गले की नलियों के समान चल तथा अचल है। इस प्रकार कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है—

तथाहि भोगा: स्तनयित्नुसन्निभा: गजाननाधूननचञ्चला: श्रिय:।
निनादिनादिन्धमकण्ठनाडिवच्चलाचलं न स्थिरमायुरङ्गिनाम् ॥[२]

---

१. द्विस., ४.६
२. वही, ६.४५

प्रस्तुत प्रसङ्ग में राम/भीम द्वारा दृष्ट युद्ध की अन्तिम परिणति से उत्पन्न विरक्ति का वर्णन है। अतएव राम/भीम आश्रय हैं। भौतिक सुखों की असारता अथवा अस्थिरता आलम्बन है। गरजते हुए बादल, हाथी का हिलता हुआ सिर तथा गायक के मधुर गले की नलियाँ उद्दीपन हैं। निर्वेद संचारी भाव है। इन सबके सहयोग से 'शम' स्थायी भाव शान्त रस की सफल अभिव्यञ्जना कर रहा है।

निष्कर्ष

इस प्रकार द्विसन्धान-महाकाव्य में काव्यशास्त्रीय औचित्य **रसभावनिरन्तरम्** की सफलतापूर्वक अवतारणा हुई है। द्विसन्धानात्मक कथावस्तु को वर्णनात्मक रूप प्रदान करने और एक सशक्त तथा परस्पर गुंथे हुए कथानक का निर्माण करने में अनेक शिल्प-वैधानिक कठिनाइयाँ कवि के समक्ष रही थीं। इसके अतिरिक्त पद-पद पर श्लिष्ट पदों के चयन की चिन्ता और शब्दाडम्बर की कृत्रिम शब्द योजना का आग्रह भी द्विसन्धान में हावी है। निस्सन्देह इन प्रवृत्तियों से काव्य का बाह्य पक्ष चमत्कृत अवश्य हुआ है, परन्तु काव्य का आन्तरिक पक्ष निर्बल ही रह गया है। इन परिस्थितियों में निर्बाध रस की अवतारणा भी बहुत कुछ प्रभावित हुई है। इस सम्बन्ध में डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने ठीक ही कहा है कि द्विसन्धान-महाकाव्य में 'मर्मस्पर्शी कथानक या घटनाएं अल्प हैं, पर उनमें रसोद्बोधन की क्षमता है। इतिवृत्त-निर्वाह की सफल चेष्टा की गयी है, पर रसात्मक तरंगें उत्पन्न होने में त्रुटि रह गई हैं'।

धनञ्जय का द्विसन्धान जैनानुमोदित परम्परा का एक प्रयोगत्मक महाकाव्य माना जाना चाहिए। अधिकांश जैन महाकाव्य द्वादशाङ्गवाणी पर अवलम्बित होने के कारण शान्तपर्यवसायी काव्य बन जाते हैं। इन महाकाव्यों में पहले-पहल इन्द्रिय-सुख के सांसारिक मूल्यों, सौन्दर्यपरक शृङ्गारिक अभिरूचियों का स्वाभाविक वर्णन उपस्थित किया जाता है, तदन्तर आत्मोत्थान की दिशाएं उद्घाटित करते हुए कवि काव्य के कथानक को निर्वाण-प्राप्ति के लक्ष्य से जोड़ देता है। जैन महाकाव्यों को इसीलिए शान्तपर्यवसायी महाकाव्य की संज्ञा दी जाती है। इस दृष्टि से द्विसन्धान-महाकाव्य परम्परा से हटकर लिखा गया महाकाव्य है। महाकाव्य का प्रारम्भ जैनानुमोदित परम्परा के अनुरूप हुआ है तथा कथानक-संयोजना भी त्रिषष्टिशलाकापुरुषों के पौराणिक इतिवृत्त से जुड़ी हुई है। परन्तु धनञ्जय परम्परा-पोषक होने के बावजूद भी युगीन साहित्य-बोध को विशेष

महत्व देते दृष्टिगत होते हैं। उन्होंने न तो काव्य की अन्तिम परिणति निर्वाण-प्राप्ति से जोड़ी है और न ही अन्य जैन महाकाव्यों के समान इसे शान्त रस पर्यवसायी बनाने का ही कोई प्रयास किया है। स्वयं कवि के शब्दों में काव्य का प्रयोजन अर्थ-प्राप्ति स्वीकार किया गया है और महाकाव्य की परिणति राम अथवा कृष्ण द्वारा निष्कण्टक राज्य करने तक सीमित है। इन सभी तथ्यों के आलोक में यह कहना युक्तिसङ्गत होगा कि आलोच्य काव्य शान्त रस को मात्र एक अङ्ग अथवा गौण रस के रूप में मान्यता देता है और इसका प्रधान रस वीर ही है। वीर काव्य की प्रेरणा से अनुप्रेरित द्विसन्धान-महाकाव्य का अस्थिपञ्जर वीर रस से निर्मित है तो शृङ्गार इसकी मांसपेशियाँ है। धनञ्जय ने अपने महाकाव्य की साजसज्जा के लिये अजन्ता एवं एलोरा की चित्रकला एवं मूर्तिकला, वात्स्यायन के कामसूत्र आदि से प्रेरणा प्राप्त की है तथा शृङ्गार को अत्यधिक महत्व दिया है। दूसरी ओर तत्कालीन युद्धप्रधान राजनैतिक वातावरण से वीर काव्योचित सामग्री का चयन कर द्विसन्धान को वीर रस से विशेष पुष्ट किया है। शेष सभी रस अवान्तर रूप से ही वर्णित हैं।

षष्ठ अध्याय

अलङ्कार-विन्यास

काव्य की आत्मा रस मानने वाले विश्वनाथ आदि रसवादी आचार्यों की दृष्टि में अलङ्कारों को गौण स्थान दिया गया है।[१] इन्हें काव्य के अस्थिर धर्म के रूप में अङ्गदादिवत् काव्य का उत्कर्षाधायक स्वीकार करते हुए रस का उपकारक मात्र माना गया है। सिद्धान्ततः भले ही रस की तुलना में अलङ्कारों का स्थान कुछ न्यून रहा हो, परन्तु इन्हें कदापि द्वितीय श्रेणी का काव्याङ्ग नहीं स्वीकार किया जा सकता। दण्डी ने **वाचामुत्तमभूषणम्** कहकर अलङ्कारों की श्रेष्ठता को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। भामह, उद्भट, रुद्रट, प्रतिहारेन्दुराज आदि काव्यशास्त्री काव्य में अलङ्कारों के विशेष महत्व को स्वीकार करते हैं। जयदेव के चन्द्रालोक में अलङ्कार को काव्य का सर्वस्व स्वीकार करते हुए कहा गया है कि अलङ्कारहीन शब्दार्थ को काव्य मानना वैसा ही है, जैसे अग्नि को अनुष्ण मानना।[२]

रामायण, महाभारत आदि महाकाव्यों में अलङ्कार-विन्यास की अनुपम छटा देखी जा सकती है। अश्वघोष, कालिदास प्रभृति महाकवियों ने भी काव्य-सृजन के अवसर पर अलङ्कार-विधान को पर्याप्त महत्ता प्रदान की है। सातवीं शताब्दी से उत्तरोत्तर अलङ्कार-प्रयोग विशेष चमत्कृत शैली में उभर कर आया है। भारवि इस शैली के प्रमुख प्रणेता माने जाते हैं। शब्दालङ्कारों तथा चित्रालङ्कारों के प्रयोग को जो वरीयता भारवि के काव्य में मिली है, उससे पूर्व अलङ्कारों को वैसा महत्व कभी किसी कवि ने नहीं दिया था।

---

१. शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥, सा.द., १०.१

२. चन्द्रालोक, १.८

युगीन समाज-चेतना और काव्य-चेतना के मिले-जुले प्रयासों से संस्कृत काव्य को शब्दाडम्बर-पूर्ण कृत्रिम शैली से विचरण करना पड़ा। साहित्यिक रुचि में पर्याप्त बदलाव आ गये थे और कवियों के मध्य आलङ्कारिक काव्य-सृजन की होड़-सी लगी हुई थी। तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियाँ भी वैसी ही थीं, जिनमें काव्य के आदर्श एक राजदरबारी काव्य की अपेक्षा से ढाले जा चुके थे। सामान्य तथा राजदरबारों की छत्रछाया में ही कवियों को प्रश्रय मिलता था और वैसे राजदरबारी वातावरण में रस-प्रधान काव्य का स्थान अलङ्कार-प्रधान काव्य ने ले लिया था। अलङ्कार-विन्यास सम्बन्धी नाना प्रकार के प्रयोगों का प्रदर्शन कर, सैन्य एवं युद्ध सम्बन्धी अस्त्र-शस्त्रों के बन्ध रचकर कविगण अपना पाण्डित्य प्रदर्शित करते थे। इसी समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि सन्धान-शैली की काव्य-रचना भी उसी का एक परिणाम थी। बुद्धि-विलास एवं शब्दाडम्बर का एक आदर्श प्रस्तुत करने वाले धनञ्जय के द्विसन्धान-महाकाव्य का प्रयोजन ही यश एवं अर्थ-प्राप्ति रहा था[१], जो इस तथ्य का द्योतक है कि कवि की आर्थिक अथवा जीविकोपार्जन की अपेक्षाओं ने भी शब्दाडम्बरपूर्ण आलङ्कारिक काव्यों को विशेष प्रोत्साहित किया। द्विसन्धान-महाकाव्य में शब्दालङ्कारों व चित्रालङ्कारों की जितनी समृद्धि एवं विविधता देखने को मिलती है, उसके आधार पर परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने अलङ्कारों के विविध भेदों की कल्पना की होगी। महाकाव्य का अन्तिम सर्ग तो विशेष रूप से यमक एवं चित्रालङ्कारों को ही समर्पित किया गया है। वैसे भी पूरे महाकाव्य में धनञ्जय एक साथ दो कथाओं का उपनिबन्धन कर सके हैं, तो उसका मुख्य कारण भी अलङ्कार-प्रयोग ही रहे हैं। द्विसन्धान-महाकाव्य में विभिन्न अलङ्कारों का विन्यास इस प्रकार हुआ है—

शब्दालङ्कार

द्विसन्धान-महाकाव्य द्व्यर्थक शैली की रचना है, अतएव इसमें शब्दालङ्कारों का विन्यास बड़ी कुशलतापूर्वक हुआ है। सन्धान-विधा के काव्यों के लिये यह अभीष्ट भी है। धनञ्जय ने स्वयं द्व्यर्थक काव्य के लिये कमल, मुरज आदि बन्धों तथा श्लेष आदि शब्दालङ्कारों को सोचते हुए कवि की स्थिति वियोगी के समान उदासीन बतायी है।[२] द्विसन्धान में निम्नलिखित शब्दालङ्कारों का प्रयोग हुआ है—

---

१. द्विस.,१८.१४६

२. द्विस,८.४५

१. अनुप्रास

वर्णों की आवृत्ति में अनुप्रास अलंकार होता है। इसके पाँच भेद माने गये हैं —(क) छेकानुप्रास, (ख) वृत्त्यनुप्रास, (ग) श्रुत्यनुप्रास, (घ) अन्त्यानुप्रास तथा (ङ) लाटानुप्रास ।[१]

(क) छेकानुप्रास

अनेक वर्णों की एक बार आवृत्ति में छेकानुप्रास होता है। धनञ्जय के द्विसन्धान में इसके एकाधिक उदाहरण मिलते हैं। यथा—

कृषीवलं कृषिभुवि वल्लवं वहिर्वनेचरं चरमटवीष्वभुङ्क्त यः।
वणिग्जनं पुरि पुरसीम्नि योगिनं नियोगिनं नृपसुतबन्धुमन्त्रिषु ॥[२]

यहाँ 'कृष', 'वल', 'चर', 'पुर', तथा 'योगिन' आदि वर्णों की एक बार आवृत्ति हुई है, अतः 'छेकानुप्रास' है।

(ख) वृत्त्यनुप्रास

एक अथवा अनेक वर्णों की बार-बार आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास होता है। द्विसन्धान में इसका उदाहरण इस प्रकार है—

इत्यस्य वाचमभिनन्द्य भरोत्थितानां
राज्ञां गलाङ्गदगलद्गलिकाच्छलेन।
मन्त्रस्य कल्पितमिवाजनि मल्लिकाना-
माराधनं जयपरं मुकुलोपहारैः ॥[३]

यहाँ 'ग ल' की तथा 'म' की अनेक बार आवृत्ति हुई है, अतः वृत्त्यनुप्रास है।

(ग) श्रुत्यनुप्रास

तालु, कण्ठ, मूर्धा, दन्त आदि किसी एक स्थान में उच्चरित होने वाले व्यञ्जनों की समता को श्रुत्यनुप्रास कहते हैं। द्विसन्धान में इसका उद्धरण इस प्रकार है—

---

१. सा.द.,१०.२-७
२. द्विस.,२.१६
३. वही,११.४१

पदघातजातदरि मुक्तधरं स
धराधरं सुकृतवान्कृतवान्।
विजहाति वा बलवता निहतः
श्लथमण्डल किल न कः पृथिवीम्॥[१]

यहाँ त, थ, द, ध वर्ण एक ही दन्त्य स्थान से उच्चरित होते हैं, अतः श्रुत्यनुप्रास है।

(घ) अन्त्यानुप्रास

पहले स्वर के साथ ही यदि यथावस्थ व्यञ्जन की आवृत्ति हो तो वह अन्त्यानुप्रास कहलाता है। इसका प्रयोग पद अथवा पाद आदि के अन्त में ही होता है। द्विसन्धान में प्रयुक्त पदान्तगत अन्त्यानुप्रास का उदाहरण इस प्रकार है–

तत्रैव चेतोनयनेन्द्रियेषु स्थितेषु दूतेष्विव लोभितेषु।
जातेषु चान्तः प्रकृतिक्षतेषु देहावशेषेण कथञ्चिदस्थात्॥[२]

यहाँ 'इन्द्रियेषु', 'स्थितेषु', 'दूतेषु', 'लोभितेषु', 'जातेषु' तथा 'क्षणेषु' आदि शब्दों में 'एषु' की आवृत्ति हुई है, अतः पदान्तगत अन्त्यानुप्रास है। इसी प्रकार पादान्तगत अनुप्रास का भी द्विसन्धान में यथोचित विन्यास हुआ है–

सभ्रूयुग्मं वैरविरुद्धं घटयन्नु
स्विद्यन्क्रोधक्वाथितलावण्यरसो नु।
रुद्धः स्थित्वाधोरणमुख्यैर्द्विरदो नु
प्रोचे विष्णोरित्यरिरग्निं विवमन्नु।[३]

यहाँ सभी पादों के अन्त में 'नु' की आवृत्ति हुई है, अतः पादान्त गत अन्त्यानुप्रास है।

(ङ) लाटानुप्रास

केवल तात्पर्य भिन्न होने पर शब्द और अर्थ दोनों की आवृत्ति होने से लाटानुप्रास होता है। इस सन्दर्भ में द्विसन्धान का निम्न पद्य द्रष्टव्य है–

---

१. द्विस.,१२.३७
२. वही,५.१४
३. वही,१३.२२

इषून्विमर्देऽमुचतां शरासनं शरानसून्यमुचन्नरातयः ।
अजस्त्रमस्त्रं व्यमुचत्प्रियाजनस्तथास्थिताः स्पर्द्धममी न तत्यजुः ॥[१]

यहाँ 'शर' की आवृत्ति हुई है, किन्तु अर्थ एक ही है—बाण । स्वरूप की दृष्टि से दोनों में भिन्नता है । एक 'आसन' का विशेषण रूप है तथा दूसरा बाण अर्थ में स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त हुआ है ।

२. यमक

यमक भी अनुप्रास की भाँति आवृत्तिमूलक अलंकार है । स्वर-व्यञ्जन समुदाय की उसी क्रम से आवृत्ति को 'यमक' कहते हैं, किन्तु जिस वर्ण समुदाय की आवृत्ति हो, उसका एक अंश या सर्वांश यदि अनर्थक हो तो भी कोई आपत्ति नहीं, किन्तु उसके किसी एक अंश या सर्वांश के सार्थक होने पर आवृत्त समुदाय की भिन्नार्थकता आवश्यक है । अभिप्राय यह है कि यमक के अन्तर्गत समानार्थक शब्दों की आवृत्ति नहीं हो सकती ।[२] द्विसन्धान-महाकाव्य में यमक की योजना अद्‌भुत प्रकार से हुई है । इसका अन्तिम सर्ग विशेष रूप से यमक अलंकार से अलंकृत है । उदाहरणार्थ निम्न यमक द्रष्टव्य है—

अथापरागोऽप्यपरागतां गतः स पश्चिमोऽपि प्रथमो विपश्चिताम् ।
अनुज्ञया वीरजिनस्य गौतमो गणाग्रणीः श्रेणिकमित्यवोचत ॥[३]

यहाँ 'अपराग' शब्द की आवृत्ति हुई है, जिसका एक स्थान पर 'रजोमलरहित' तथा दूसरे स्थान पर 'वाच्यता' अर्थ है, अतएव यमकालंकार है ।

यमक अलंकार का भरत से लेकर अद्यपर्यन्त विभिन्न प्रकार से वर्गीकरण हुआ है, किन्तु सर्वाधिक वैज्ञानिक तथा सूक्ष्म विवेचन भोज ने अपने सरस्वतीकण्ठाभरण में किया है ।[४] उनके अनुसार यमक को मुख्य रूप से(१) स्थान यमक, (२) अस्थान यमक तथा (३) पाद यमक — तीन मुख्य भागों मे विभक्त कर उनके पुनः उपभेद किये जा सकते हैं । द्विसन्धान में प्रयुक्त यमक का इन भेदों के आधार पर निम्न प्रकार से विवेचन किया जा सकता है—

---

१. द्विस., ६.९
२. सा.द., १०.८
३. द्विस., १.९
४. सरस्वतीकण्ठाभरण, २.५९-६०

१. स्थान यमक

जहाँ वर्णसमुदाय की आवृत्ति एक निश्चित पाद के आदि, मध्य अथवा अन्त में अपेक्षित होती है, वहाँ 'स्थान यमक' होता है। इसे (क) आदि यमक, (ख) मध्य यमक, (ग) अन्त यमक, (घ) आदि मध्य यमक, (च) आद्यन्त यमक, (छ) मध्यान्त यमक, (ज) आदिमध्यान्त यमक तथा (झ) अन्तादिक यमक—इन आठ भेदों में विभक्त किया जा सकता है। इन सभी यमक-भेदों का द्विसन्धान-महाकाव्य में निम्न प्रकार से विन्यास हुआ है—

(क) आदि यमक

व्यवधान तथा अव्यवधान से होने वाली आवृत्ति के आधार पर इसके पुनः अनेक भेद हो सकते हैं। इन भेदों के जो उदाहरण द्विसन्धान में उपलब्ध हैं, वे इस प्रकार हैं—

हरितो हरितो बिभ्युराभ्यो राभ्यो विनारयः।
तेऽभ्यस्तेभ्यः स्वदेशेभ्यः केवलं केऽवलन्न वा॥[१]

यहाँ प्रत्येक पाद के आदि में 'हरितो', 'राभ्यो', 'तेभ्यः' तथा 'केवलं' वर्ण-समुदायों की व्यवधानरहित आवृत्ति हुई है, अतः **अव्यपेत-आदि यमक** है। भरत के अनुसार इसे **सन्दष्ट यमक** कहा गया है।

इसी प्रकार भरत 'जहाँ पाद के आदि में समान अक्षरों का समावेश हो', वहाँ **पादादि यमक** स्वीकार करते हैं।[२] यह उन्हीं के **पादान्त यमक** का विपरीत भेद है। भामह के मतानुसार इसे **एकान्तर-आदि यमक** कहा जा सकता है।[३] व्यवधान सहित आवृत्ति होने के कारण यह **व्यपेत-आदि यमक** ठहरता है। द्विसन्धान-महाकाव्य में इसका उदाहरण इस प्रकार है—

प्रभावतो बाणचयस्य भोक्तरि प्रभावतोषे समरे स्थिते नृपाः।
प्रभावतो हीनतया विवर्जिता प्रभावतो ही न तया रराजिरे॥[४]

---

१. द्विस., १८.१११

२. 'आदौ पादस्य यत्र स्यात्समावेशः समाक्षरः।
पादादियमकं नाम तद्विज्ञेयं बुधैर्यथा॥', ना. शा., १६.७८

३. द्रष्टव्य - का. भा., २.१६

४. द्विस., ६.३१

यहाँ चारों पादों के आरम्भ में 'प्रभावतो' पद के समान अक्षरों का समावेश होने के कारण 'व्यपेत-आदि यमक' है। इसी प्रकार इस 'व्यपेत-आदि यमक' का एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है—

स हस्ताभ्यां चमूहस्तौ सहस्ताभ्यामपीडयत्।
बिभ्रज्जिषुः प्रताग्नौ बिभ्रत्संधित्सुतामिव ॥[१]

यहाँ प्रथम व द्वितीय पादों के आदि में 'सहस्ताभ्याम्' तथा तृतीय व चतुर्थ पादों के आदि में 'बिभ्रत्' पदों के समान अक्षरों का समावेश हुआ है, अतः'व्यपेत-आदि यमक' है। इस उदाहरण में एक विशेषता यह है कि इसके प्रथम तथा द्वितीय पादों में आवृत्त वर्णसमुदाय एकजातीय तथा तृतीय व चतुर्थ पादों में आवृत्त वर्णसमुदाय अन्यजातीय है। इस प्रकार आवृत्त वर्णसमुदायों के अनेकजातीय होने से यह **अनेकजातीय** अथवा **विजातीय यमक** का उदाहरण है।[२] भोज ने इस प्रकार के उदाहरणों में द्विपाद यमकद्वय अर्थात् **मिश्र यमक** की स्थिति मानी है।[३] द्विसन्धान-महाकाव्य में ऐसे यमक के लिए १८.३९, ७९, १००, १०६, ११७ तथा १४० क्रमाङ्क वाले पद्य भी देखने योग्य हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने **आदि यमक** को विभिन्न पादों में विभिन्न रूपों में यमकित कर इसके अनेक भेद किये हैं। द्विसन्धान-महाकाव्य में उपलब्ध उन भेदों का विवरण इस प्रकार है—

(i) **अव्यपेत प्रथमपादगत आदि यमक**

सितासिताम्भोरुहसारितान्तराः प्रवृत्तपाठीनविवर्त्तनक्रियाः।
समायता यत्र विभान्ति दीर्घिकाः कटाक्षलीला इव वारयोषिताम् ॥[४]

(ii) **अव्यपेत द्वितीय पादगत आदि यमक**

देवं किं बहुनानेन **साधुनासाधुनाथवा।**
निष्पश्चिममिदं पश्य नेत्रमात्राखिलेन्द्रियः ॥[५]

---

१. द्विस., १८.१३
२. तु.–काव्या., ३.३०
३. द्रष्टव्य- सर.कण्ठा., २.११६
४. द्विस., १.२६
५. वही, ७.६४

(iii) **अव्यपेत तृतीय पादगत आदि यमक**

तस्मिन्कालेऽनुजोपायात् प्रस्थितं प्रतिकेशवं ।

विश्वविश्वम्भरानाथमित्थमूचेऽग्रजं वचः ॥[१]

(iv) **व्यपेत प्रथम-द्वितीय पादगत आदि यमक**

चक्रं दुःसहमालोक्य चक्रन्दुः सहसारयः ।

मृतोत्पन्नेव साश्वा साश्वासा सा वैष्णवी चमूः ॥[२]

(v) **व्यपेत प्रथम-तृतीय पादगत आदि यमक**

कमला च दलान्तरस्रवज्जलबिन्दूज्ज्वललम्बमौक्तिकम् ।

कमलातपवारणं तदा शशिशुभ्रं बिभरांबभूव तत् ॥[३]

(vi) **व्यपेत द्वितीय -चतुर्थ पादगत आदि यमक**

इति मोघं बभूवारि**र्मन्त्र**युद्धमयुङ्क्त यत् ।

प्रागनालोचितस्यास्मिन् **मन्त्र**स्यावसर कुतः ॥[४]

(ख) मध्य यमक

आदि यमक की भाँति इसके भी व्यवधान तथा अव्यवधान के आधार पर विभिन्न भेद किये जा सकते हैं । द्विसन्धान में उपलब्ध इसके उदाहरण इस प्रकार हैं—

स्थिरसमुद्रसमुद्रसकौतुकाद्युगभुजं विनयेन नयेन च ।

तमुदितं मुदितं ह्यनुजोग्रवागिति विभुं निजगौ निजगौरवात् ॥[५]

---

१. द्विस., ७.२०

२. वही,१८.८०

३. वही,४.२८

४. वही,१८.५९

५. वही,८.२०

यहाँ प्रत्येक पाद के मध्य में क्रमशः 'समुद्र', 'नयेन', 'मुदितं' तथा 'निजगौ' वर्ण समुदायों की व्यवधानरहित आवृत्ति हुई है, अतः **अव्यपेत मध्य यमक** है। इस सन्दर्भ में द्विसन्धान का पद्य ८.५ भी द्रष्टव्य है।

इसी प्रकार भरत द्वारा विहित **पादादि यमक** एवं **पादान्त यमक** की शृङ्खला को जोड़ने के लिये दण्डी ने **व्यपेत मध्ययमक** का सर्जन किया। द्विसन्धान में उपलब्ध इसका उदाहरण इस प्रकार है—

पशुवच्छादयन्भीरु शूरानच्छादयं समम्।
हृद्यस्वच्छादयन्धातोरस्त्रैः स्वच्छादयन्नभः ॥[1]

यहाँ सभी पादों के मध्य में 'छादयन्' पद के समान अक्षरों का समावेश होने के कारण **व्यपेत मध्य यमक** है। द्विसन्धान का एक अन्य पद्य १८.४९ भी द्रष्टव्य है।

कहीं अव्यपेत तथा कहीं व्यपेत आवृत्ति रहने पर **अव्यपेत-व्यपेत मध्ययमक** होता है। द्विसन्धान में इसका प्रयोग इस प्रकार हुआ है—

असुतरां सुतरां स्थितिमुन्नतामसुमतां सुमतां महतां वहन्।
उरुचितैरुचितैर्मणिराशिभिः स्वरूचितैरुचितैरवभात्ययम् ॥[2]

यहाँ प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय पादों के मध्य में क्रमशः 'सुतरां', 'सुमतां' और रुचितै वर्णसमुदायों की व्यवधान रहित आवृत्ति हुई है, तो तृतीय पाद के मध्य में आवृत्त 'रुचितै' वर्णसमुदाय चतुर्थ पाद के मध्य में 'मणि' आदि वर्णों के व्यवधानसहित आवृत्त हुआ है, अतएव यह **अव्यपेत-व्यपेत मध्य यमक** है।

संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने 'आदि यमक' की भाँति इसके भी अनेक भेद किये हैं। द्विसन्धान में उपलब्ध उन भेदों के प्रयोग इस प्रकार हैं—

(i) **अव्यपेत प्रथमपादगत मध्य यमक**

जलाशयं **दिशि दिशि** पङ्कजीविनं नवोत्थितं नियतिषु देशकालयोः।
विमर्द्य षष्ठिकमिव विद्विषं भुवि प्ररोपयन्नतुलमवाप यः फलम् ॥[3]

---

१. द्विस., १८.११
२. वही, ८.३
३. वही, २.२३

(ii) **अव्यपेत द्वितीयपादगत मध्य यमक**

चकम्पिरे किंपुरुषा भयेन दिशां विनेशुर्नगजा गजाश्च ।
मर्मप्रहारैः परुषैर्वचोभिस्तयोरभूत्तत्र महान्विमर्दः ॥[१]

(iii) **अव्यपेत तृतीय पादगत मध्य यमक**

एषा कटाक्षपातेन सारङ्गीलोललोचना ।
वने दिशि दिशि भ्रान्ता दीर्घमन्वीक्षते पतिम् ॥[२]

(iv) **अव्यपेत चतुर्थपादगत मध्य यमक**

त्वमिहात्थ यथा तथा स नो चेत्सुभटः प्राणपरिव्यये सहिष्णुः ।
किमिहोत्सहतेऽधिपो ममाहुर्निजशूरेषु हि विप्रियं प्रियं वा ॥[३]

(v) **व्यपेत प्रथम पादगत मध्य यमक**

सर्वः कुमारः सुकुमारमूर्तिः सोष्णीषमूर्द्धोन्नतिरौर्णिकीभ्रूः ।
आलिङ्गितश्रीकरकङ्कणाङ्कमार्गादिवावर्तितकण्ठरेखः ॥[४]

(vi) **व्यपेत तृतीय पादगत मध्य यमक**

सरसीजलप्लवहिमस्तमसौ द्विपदानसौरभमथानुभवन् ।
मृगनाभिगन्धमपि गन्धवहः सभयं वनेचर इवाभिययौ ॥[५]

(vii) **व्यपेत चतुर्थपादगत मध्य यमक**

मन्दोदर्यामिच्छसि चित्तव्यतिपातं
न्याय्यं त्वं वैभीषणमुक्तं न शृणोषि ।
नाद्याप्युच्चैः किञ्चिदतीतं तव कार्यं
गत्वा विष्णुं तं प्रभविष्णुं वरिवस्य ॥[६]

---

१. द्विस,५.३१
२. वही,७८९
३. वही,१०.४२
४. वही,३.३१
५. वही,१२.४६
६. वही,१३.२०

(viii) **व्यपेत प्रथम-द्वितीय पादगत मध्य यमक**

उपसान्त्वय कृत्**यमात्म**नस्तमकृत्यं नयवृद्धिमृद्धिभिः ।
उभयं पर**कीयमात्म**सात् कुरु नीतेः प्रथमोऽयमुद्यमः ॥[१]

(ix) **व्यपेत द्वितीय-चतुर्थ पादगत मध्य यमक**

इत्याशङ्क्य चिराज्जज्ञे संतप्तै**र्भीरु**कैः शिखी ।
दृष्ट्या शूरैः पराच्छेदि भिदेयं **भीरु** धीरयोः ॥[२]

(x) **व्यपेत तृतीय-चतुर्थ पादगत मध्य यमक**

शिष्टैर्जुष्टं रक्षितं दण्डनीत्या दृष्टं चौच्चैर्यच्च पुण्यग्रहेण ।
कार्य**द्वारं** श्रीगृह**द्वार**भूतं तस्मिन्**मूढं** दिग्वि**मूढं** निराहुः ॥[३]

(ग) **अन्त यमक**

इस भेद के भी व्यपेत एवं अव्यपेत आवृत्ति के आधार पर कई भेद किये जा सकते हैं । द्विसन्धान में उपलब्ध इसके उदाहरण इस प्रकार हैं—

न गुणैर्वधूभिरमितो रमितो न विलेपनं निजगृहे जगृहे ।
विभवेषु नो वशमितः शमितः स गतो यतित्वमुदितो मुदितः ॥[४]

यहाँ प्रत्येक पाद के अन्त में 'रमितो', 'जगृहे', 'शमितः', तथा 'मुदितः' वर्णसमुदायों की व्यवधानरहित आवृत्ति हुई है, अतः यहाँ **अव्यपेत-अन्त यमक** है । भरत ने इस प्रकार के यमक को **पादान्ताम्रेडित यमक** कहा है । इस सन्दर्भ में द्विसन्धान-महाकाव्य का पद्य ६.३९ भी द्रष्टव्य है ।

इसी प्रकार भरत 'चारों पादों के अन्त मे जहाँ समान अक्षर हों, उसे **पादान्त यमक** मानते हैं ।[५] भामह ने इसे **समस्त पाद यमक** माना है ।[६] व्यवधानयुक्त

---

१. द्विस.,४.१६
२. वही,१८.३८
३. वही,११.४
४. वही,८.५६
५. 'चतुर्णां यत्र पादानामन्ते स्यात्सममक्षरम् ।
तद्वै पादान्तयमकं विज्ञेयं नामतो यथा ॥' ना. शा.,१६.६६
६. तु:- का. भा.,२.१५

आवृत्ति होने के कारण यह **व्यपेत अन्त यमक** भी कहा जा सकता है। द्विसन्धान-महाकाव्य का निम्नलिखित पद्य इसका उदाहरण है–

भान्त्येतस्मिन्मणिकृततरङ्गाभोगास्तत्सारूप्यान्नहततरङ्गाभोगाः।
क्रीडास्थानै रुचिरमहीनामुच्चैरुद्धान्तानां सुचिरमही नामुच्चैः।।[१]

यहाँ प्रथम और द्वितीय पादों के अन्त में 'तरङ्गाभोगाः' तथा तृतीय और चतुर्थ पादों के अन्त में 'चिरमहीनामुच्चैः'पदों के समान अक्षरों का समावेश हुआ है, अतः **व्यपेत-चतुष्पादगत अन्त यमक** है। इस उदाहरण के प्रथम तथा द्वितीय पादों में आवृत्त वर्णसमुदाय अन्यजातीय है। इस प्रकार आवृत्त वर्णसमुदायों के अनेकजातीय होने से इसे **अनेकजातीय** या **विजातीय यमक** भी कहा जा सकता है। इस प्रकार के उदाहरणों में द्विपाद यमकद्वय अर्थात् **मिश्रयमक** की स्थिति भी मानी जा सकती है। द्विसन्धान-महाकाव्य में इस प्रकार के प्रयोग के लिये पद्य ८.४० तथा ८.४४ भी द्रष्टव्य हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने इसके भी पादगत आवृत्ति के आधार पर अनेक भेद किये हैं। द्विसन्धान में उपलब्ध उन भेदों के उदाहरण इस प्रकार हैं–

(i) **अव्यपेत प्रथमपादगत अन्त यमक**

द्विषन्मारी चोद्यप्रबलरथवेगो **दिशि दिशि**
स्वयं गर्जन्द्रोणो रणशिरसि केनाथ विधृतः।
सदाप्युच्छ्वासेनोच्छ्वसिति भुवन यस्य सकलं
स कैर्वार्यो दुर्योधन इह बलेनेन्द्रजिदसौ ॥[२]

(ii) **अव्यपेत द्वितीयपादगत अन्त यमक**

पदघातजातदरि मुक्तधरं स धराधरं सुकृतवान्कृतवान्।
विजहाति वा बलवता निहतः श्लथमण्डलः किल न कः पृथिवीम् ॥[३]

---

१. द्विस.,८।७
२. वही,११.३७
३. वही,१२.३७

(iii) **अव्यपेत चतुर्थपादगत अन्त यमक**

उत्पलायत लोलाक्षः कामुकीभिरुपारतः ।

किन्नराणां गणः क्रीडन् प्रसन्नपवने **वने** ॥[१]

(iv) **व्यपेत प्रथम-द्वितीय पादगत अन्त यमक**

कवेरपार्थामधुरा न **भारती** कथेव कर्णान्तमुपैति **भारती** ।

तनोति सालंकृतिलक्ष्मणान्विता सतां मुदं दाशरेथेर्यथा तनुः ॥[२]

(v) **व्यपेत द्वितीय-चतुर्थपादगत अन्त यमक**

गाढाकल्पकनिष्ठत्वं दूरं कुर्वंश्छलेन **ताम्** ।

स्वपदव्यवसायाय क्षिप्रं जहे सतीव्र **ताम्** ॥[३]

(घ) **आदिमध्य यमक**

पूर्वोक्त यमक भेदों की भाँति इसके भी व्यपेत तथा अव्यपेत आवृत्ति के आधार पर कई भेद किये जा सकते हैं । उनको विभिन्न पादों में यमकित कर पुनः विभिन्न रूपों में विभक्त किया जा सकता है । द्विसन्धान में उपलब्ध इनके उदाहरण इस प्रकार हैं—

(i) **अव्यपेत द्वितीय पादगत आदिमध्य यमक**

अध्यासीना निश्चला निस्तरङ्गानेतानेतानीलनीलान्प्रदेशान् ।

नीलाभ्राणां शङ्क्य किं बलाका नो शङ्खानां पङ्क्तयस्ता विभान्ति ॥[४]

(ii) **अव्यपेत तृतीय पादगत आदिमध्य यमक**

सत्यग्रेसरसीतापहारिण्येषेत्यलोकयत् ।

यां यां तया तया रत्या दूनः परमकाष्ठया ॥[५]

---

१. द्विस.,७.५
२. वही,१.५
३. वही,७.९२
४. वही,८.१०
५. वही, ९.५

(iii) **व्यपेत प्रथम पादगत आदिमध्य यमक**

कुलपर्वता: कुलपराभवत: समवैमि तेऽद्य निजमुन्नमनम् ।
कलयन्ति फल्गु विलयं मनुते सवितोदयास्तमयसानुमतो: ॥[१]

(iv) **व्यपेत प्रथम-द्वितीय पादगत आदिमध्य यमक**

गजेषु नष्टेष्वगजेष्वनायकं **रथेषु** भग्नेषु मनो**रथेषु** च ।
न शून्यचित्तं युधिराजपुत्रकं पुरातनं चित्रमिवाशुभद् भृशम् ॥[२]

(v) **अव्यपेत-व्यपेत प्रथमपादगत आदिमध्य यमक**

सुरासुरातिक्रमविक्रमस्य दशास्यनामोद्वहत: स्वसारम् ।
सुतापयोगादभवत्सुदु:खा कामेषु भग्नेषु कुत: सुखं वा ॥[३]

(च) **आद्यन्त यमक**

व्यवधान तथा अव्यवधान से होने वाली आवृत्ति के आधार पर इसके अनेक भेद किये गये हैं । अव्यपेत आवृत्ति वाले आद्यन्त यमक का भरत ने **काञ्ची यमक** नाम से उल्लेख किया है, तो व्यपेत आवृत्ति वाले आद्यन्त यमक का रुद्रट **आद्यन्त यमक** नाम से ही उल्लेख करते हैं । द्विसन्धान-महाकाव्य में उपलब्ध इस यमक के उदाहरण इस प्रकार हैं—

गता हयेभ्योऽप्यसवोऽतिवेगतो गजा मुमूर्च्छु: शरवर्षतोऽगजा: ।
रथा विभिन्ना: पतिता मनोरथा नरा गतास्ते न समानरागता: ॥[४]

यहाँ प्रत्येक पाद के आदि और अन्त में क्रमश: 'गता', 'गजा', 'रथा' और 'नरागता' पदों की आवृत्ति हुई है, अत: यहाँ **पादगत व्यपेत आद्यन्त यमक** है ।प्रथम आदि पादों के आद्यर्ध की द्वितीयादि पादों के अन्त्यार्ध में होने वाली आवृत्ति को भी **आद्यन्त यमक** कहा गया है ।[५] द्विसन्धान-महाकाव्य में इस प्रकार का उदाहरण भी उपलब्ध होता है—

---

१. द्विस.,१२.१३
२. वही,६.३०
३. वही,५.६
४. वही,६.४३
५. का.रु.,३.३२

व्यधादरीणां द्वीपेषु जयस्तम्भस्थितिं व्यधात्।

व्यधाद्वेलावने धैर्याद्दण्डोऽस्य मधु भव्यधात् ॥[1]

यहाँ प्रथम तथा तृतीय पादों के आद्यर्ध में वर्तमान 'व्यधात्' पद के वर्णसमुदाय की द्वितीय तथा चतुर्थ पादों के अन्त्यार्ध में आवृत्ति हुई है, अतः यह भी **आद्यन्त यमक** है। पादगत आदि और अन्त के भागों की कहीं व्यवधानरहित एवं कहीं व्यवधानसहित आवृत्ति होने पर **अव्यपेत व्यपेत आद्यन्त यमक** होता है। द्विसन्धान-महाकाव्यगत इसका उदाहरण इस प्रकार है—

शुद्धां शुद्धान्तवसीतं सङ्गतः कर्मसङ्गतः।

मुख्योद्यावो ददे मुख्यो वाष्पेण त्र्यंजलं जलम् ॥[2]

यहाँ प्रथम पाद के आदि में 'शुद्धां' पद के और चतुर्थ पाद के अन्त में 'जलं' पद के वर्णसमुदायों की व्यवधानरहित तथा द्वितीय और तृतीय पादों के आदि और अन्त में क्रमशः 'सङ्गतः' व 'मुख्यो' पदों के वर्णसमुदायों की व्यवधानसहित आवृत्ति हुई है। अतः यहां **अव्यपेत व्यपेत आद्यन्त यमक** है।

उपर्युक्त उदाहरणों के अतिरिक्त **आद्यन्त यमक** के कतिपय अन्य उदाहरण, जो कि विभिन्न यमकों के मिश्रण के फलस्वरूप **मिश्र यमक** अथवा **संकर यमक** भी कहे जा सकते हैं, द्विसन्धान-महाकाव्य में दृष्टिगत होते हैं। यथा—

मतङ्गजानामधिरोहका हता मतं गजानां विवशा विसस्मरुः।

तदीयपङ्क्त्या चपलायमानया परे विभिन्नाश्च पलायमानया ॥[3]

यहाँ प्रथम और द्वितीय पादों के आदि में 'मतङ्गजानां' पद के वर्णसमुदाय की और तृतीय व चतुर्थ पादों के अन्त में 'चपलायमानया' पद के वर्णसमुदाय की व्यवधानसहित आवृत्ति हुई है। इस प्रकार प्रथम-द्वितीय पादों में **आदियमक** तथा तृतीय-चतुर्थ पादों में **अन्त यमक** होने से यहाँ **व्यपेत आद्यन्त यमक** कहा जा सकता है।

---

१. द्विस.,१८.१२९
२. वही,१८.१०२
३. वही,६.४१

संख्या १,५,१४, १७, २२, ३२, ३५, ५०, ५६, ८६, ९०, ९६, ११२, ११४, १२७, १३२, १३५ व १३६ भी द्रष्टव्य हैं।

(ii) **द्वितीय-चतुर्थ पादाभ्यास यमक**

ज्वलत्यमुष्मिन्कुपिते महीपतावनेकबन्धानि विभावसाविव।

प्रिये प्रजानां ननृत् रणे तथा वने कबन्धानि विभावसाविव ॥[१]

यहाँ द्वितीय पाद की चतुर्थ में यथावत् आवृत्ति हुई है, अत: **द्वितीय-चतुर्थ पादाभ्यास यमक** है। इस प्रकार के यमक को भरत ने **विक्रान्त यमक** के रूप में स्वीकार किया है। रुद्रट इसे **संदंष्टक यमक** कहते हैं। द्विसन्धान-महाकाव्य में पद्य संख्या ६.३५, ८.१३, १५, १७, २३, ५०, १८. २, ३, ७, १०, १५, १६, २४, ४४, ४६, ५३, ६५, ६७, ७२, ७५, ७७, ८५, ९३, ९८, ११०, ११५, ११९, १२३, १२४ यह स्पष्ट करती हैं कि धनञ्जय को ऐसे यमक अतिप्रिय हैं।

(ख) अर्धाभ्यास यमक

जहाँ एक अर्धवृत्त से ही पूरे वृत्त (पद्य) की पूर्ति हो जाती हो, उसे **अर्धाभ्यास यमक** कहते हैं। भरत ने इस **समुद्ग यमक** कहा है।[२] द्विसन्धान-महाकाव्य में **अर्धाभ्यास यमक** का प्रयोग इस प्रकार हुआ है–

अत्रासनक्रमकरैरयमाविलोऽलमायातिपातिविसरो जवनस्वरोऽध:।

अत्रासनक्रमकरैरयमाविलोलमायातिपातिविसरोजवनस्वरोऽध: ॥[३]

यहाँ पूर्वार्ध की उत्तरार्ध में समान आवृत्ति होने के कारण उक्त अलंकार है। इसी प्रकार द्विसन्धान का एक अन्य पद्य दर्शनीय है–

अत्यन्तकोऽपकारेण निरास्थन्न तदानवम्।

अत्यन्तकोपकारेण निरास्थं न तदानवम् ॥[४]

---

१. द्विस., ६.३३

२. 'अर्धेनैकेन यद्वृत्तं सर्वमेव समाप्यते।
समुद्गयमकं नाम तज्ज्ञेयं पण्डितैर्यथा ॥', ना.शा., १६.७०

३. द्विस.,६.२२

४. वही,१८.८३

विश्वनाथ ने इस प्रकार के अलंकार-विन्यास को **लाटानुप्रास** के अन्तर्गत माना है ।[१]

(ग) महायमक

चारों पादों के एक समान होने पर **महायमक** होता है । भरत ने इसे **चतुर्व्यवसित यमक** के नाम से सम्बोधित किया है ।[२] द्विसन्धान में इसका विन्यास इस प्रकार हुआ है—

समयासीदसौ जन्यं समयासीदसौजन्यं ।
समयासीदसौ जन्यं समयासीदसौजन्यं ॥[३]

इस उदाहरण में चारों पाद एकाकार हैं अर्थात् चारों पादों में परस्पर एक ही पाद का अभ्यास हुआ है, अत: **महायमक** है ।

३. श्लेष

श्लिष्ट पदों से अनेक अर्थों का अभिधान होने पर **श्लेषालङ्कार** होता है ।[४] द्विसन्धान-महाकाव्य में श्लेष-विन्यास इस प्रकार हुआ है—

कोटिश: कुञ्जरबलं शरपञ्जरमध्यगम् ।
रामभद्रं जनोऽद्यापि वनस्थितमिवैक्षत ॥[५]

प्रस्तुत उद्धरण में 'कोटिश: कुञ्जरबलं' का एक ओर 'करोड़ों हाथियों के बल का धारक' अर्थ है, तो दूसरी ओर 'करोड़ों हाथियों की सेना' । 'रामभद्रं' का अर्थ रामायण के पक्ष में 'रामचन्द्र' है तो महाभारत के पक्ष में 'सुन्दर तथा भद्र जाति वाले' । इसी प्रकार 'वनस्थितम्' भी श्लेष के माध्यम से 'वनवासी' तथा 'वन में रहकर अथवा जाकर' अर्थ देता है । फलत: रामायणपक्ष में इस पद्य का अर्थ है— करोड़ों हाथियों के बल के धारक तथा बाणों के जाल में से जाते हुए रामभद्र (रामचन्द्र) को इस युद्ध के समय भी लोग बनवासी ही देखते थे । महाभारत के पक्ष में— (युद्ध-स्थली में खड़ी) करोड़ों सुन्दर, भद्रजाति के हाथियों की सेना को

---

१. द्रष्टव्य- सा.द.,१०.७
२. ना.शा.,१६.८२
३. द्विस.,१८.१२८
४. सा.द.,१०.११
५. द्विस.,९.४५

(छ) मध्यान्त यमक

पूर्ववत् इसके भी अव्यपेत आदि आवृत्ति के माध्यम से विभिन्न पादों में विभिन्न रूपों में यमकित होने से अनेक भेद किये जा सकते हैं। द्विसन्धान-महाकाव्य में उपलब्ध इसके उदाहरण इस प्रकार हैं–

स धृतव्यजनेन जनेन पुरं परमङ्गलमङ्गलघोषकृता।
नगरीमभिरज्जयता जयतादिति वाक्यविभागमितो गमितः ॥[१]

यहाँ प्रथम और द्वितीय पाद के मध्य में क्रमशः 'जनेन' तथा 'मङ्गल' पदों के वर्णसमुदायों की तथा तृतीय व चतुर्थ पादों के अन्त में 'जयता' तथा 'गमितः' पदों के वर्णसमुदायों की व्यवधानरहित आवृत्ति हुई है। इस प्रकार प्रथम-द्वितीय पादों में **मध्य-यमक** और तृतीय-चतुर्थ पादों **अन्त यमक** होने से यहाँ **अव्यपेत मध्यान्त यमक** है। पुनश्च–

अत्र समेता मृदुरसमेता भ्रूकुटिलास्याः स्मग्कुटिलास्याः।
भूप रमन्ते ह्यनुपरमं ते वेगमनेन व्यभिगमनेन ॥[२]

यहाँ चारों पादों के मध्य और अन्त भाग में 'रसमेता', 'कुटिलास्याः', 'परमन्ते' और 'गमनेन' पदों के वर्णसमुदायों की व्यपेत आवृत्ति हुई है, अतः यहाँ **व्यपेत मध्यान्त यमक** है। इस सन्दर्भ में द्विसन्धान-महाकाव्य के पद्य ८.३१-३३ भी द्रष्टव्य हैं।

सहसा वल्लकीहस्ता विचेलुः सिद्धकोटयः।
दिवि ज्योतिर्गणज्योतिस्तीव्रं जज्ञेऽतिविद्युति ॥[३]

यहाँ तृतीय पाद के मध्य और अन्त में 'ज्योतिः' पद के वर्णसमुदाय की व्यवधानसहित आवृत्ति हुई है, अतः **व्यपेत तृतीय पादगत मध्यान्त यमक** है।

(ज) आदिमध्यान्त यमक

द्विसन्धान-महाकाव्य में इस यमक-विन्यास के उदाहरण अनुपलब्ध हैं।

---

१. द्विस.,८.४८
२. वही,८.३०
३. वही, ७.८

(झ) अन्तादिक यमक

जहाँ पूर्वपाद का अन्तिम भाग अग्रिम पाद के आदि भाग से साम्य रखते हुए आवृत्त होता है, उसे **अन्तादिक यमक** कहते हैं। भरत ने इस प्रकार के यमक को **चक्रवाल यमक** नाम से अभिहित किया है।[१] विभिन्न काव्यशास्त्रियों ने इसके कई भेद किये हैं, उनमें से जो द्विसन्धान में उपलब्ध हैं, वे इस प्रकार हैं–

(i) प्रथम-द्वितीय पादगत अन्तादि यमक

स्वस्यारेश्चायोधयन्मित्रमित्रं **मित्रं** पार्ष्णिग्राहमाक्रन्दकश्च।
नन्वासारावप्युपायैर्जिगीषुः शक्त्या सिद्धयाभ्युद्यतो हन्त्यरातिम्॥[२]

(ii) तृतीय-चतुर्थपादगत अन्तादिक यमक

बलेन यः स्वयमनिलोऽपि नानिलः सनीतिरप्यभवदनीतिगोचरः।
अशीतकः शशिशिशिरः **समेखलः समेखलस्त्विति** न जनेन दूषितः॥[३]

इस प्रकार अन्य उदाहरणों में द्विसन्धान के पद्य १.४६ तथा १८.८० भी द्रष्टव्य हैं।

(iii) चतुष्पादगत अन्तादिक यमक

इत्याकर्ण्य तमुत्**साहं साहं**कारं **सुरावली**।
सुरावलीला **साशंसं साशं संप्रशशंस** तम्॥[४]

द्विसन्धान महाकाव्य के पद्य ६.३७, ८.९, ८.११, ८.४६ तथा १८.४८ में भी इस यमक का सुन्दर ढंग से विन्यास हुआ है।

२. अस्थान यमक

जहाँ वर्णसमुदाय की आवृत्ति के लिये एक निश्चित स्थान-पाद के आदि, मध्य अथवा अन्त की कोई अपेक्षा नहीं होती, वहाँ, **अस्थान यमक** होता है। भामह

---

१. 'पूर्वस्यान्तेन पादस्य परस्यादिर्यदा समः।
चक्रवच्चक्रवालं तद्विज्ञेयं नामतो यथा॥', ना.शा.,१६.७४

२. द्विस.,११.११

३. वही,२.२९

४. वही,१८.९२

ने इस प्रकार के यमक को **आवली यमक** कहा है ।[१] द्विसन्धान में उपलब्ध इस अलंकार का इस प्रकार विन्यास हुआ है–

सरितः सरितो नगान्नगानवतीर्णः स बहूपकारकः ।
विषयान्विषयानपेक्षितां वशवर्तीव गतो न्यशामयत् ॥[२]

यहाँ 'सरितः' तथा 'नगान्' पदों की प्रथम पाद में सूक्ष्म रूप से पादव्यापी अव्यपेत आवृत्ति है तथा तृतीय पाद में 'विषयान्' की आवृति हुई है, अत; **अस्थान यमक** है । भोज द्वारा परिगणित **अस्थान यमक** के विभिन्न भेदों में इस प्रकार का यमक **पादगत सूक्ष्म अव्यपेत अस्थान यमक** कहा गया है ।

अमुत्र मकरैः करैर्विरचिता चिता विनियतायताप्य च नभः ।
नभस्वदयुतायुता दिशमितामिता समहिमा हिमा जलततिः ॥[३]

यहाँ प्रत्येक पाद में 'करैः' इत्यादि पदों की अव्यपेत आवृत्ति हुई है तथा सन्धि में पादविच्छेद हो जाने से 'चिता' आदि पदों में व्यपेत यमक बन जाता है, किन्तु उसी को सन्दंश के रूप में आवृत्त करने से व्यपेतत्व निवृत्त हो जाता है, जबकि **अव्यपेत मध्य यमक** तो बना ही रहता है और सामूहिक रूप में **अव्यपेत यमक** है ही तथा स्वल्प वर्णों की आवृत्ति हुई है । भोज ने इस प्रकार के यमक विन्यास को **पादसन्धिगत स्वान्यभेदानुच्छेदक सूक्ष्म अव्यपेत अस्थान यमक** कहा है ।

सुसहायतया सुसहायतया मधुरं मधुरञ्जितयाजितया ।
शमितः शमितः सहितः सहितः प्रतिवासरवासरतिं प्रययौ ॥[४]

यहाँ 'सुसहायतया', 'मधुरं', 'जितया', 'शमितः' 'सहितः', और 'वासर' पदों की सम्पूर्ण श्लोक व्याप्त आवृत्तियाँ होने से नियत-स्थानता नहीं रह पायी है और ये आवृत्तियाँ स्थूलरूप से होने के कारण व्यवधानरहित हैं, इसलिए यहाँ **श्लोकगत स्थूल अव्यपेत अस्थान यमक** हैं ।

क्वचनातिपातमटवीमटवीं सधुनीं धुनीमभिनिवेशमगात् ।
सलतागृहान्वसतिरम्यतया तरसाभिपादमभिपादमगात् ॥[५]

---

१. का.भा.,२.९
२. द्विस.,४.४५
३. वही,८.२४
४. वही,८.५३
५. वही, १२.८

यहाँ 'अटवीं', 'धुनीं' तथा 'अभिपादम्' इस अव्यपेत आवृत्ति रूप यमक भेद में 'अगात्' की सूक्ष्म व्यपेत के रूप में पादान्त आवृत्ति हुई है। इस प्रकार स्थान की नियतता नहीं रह पायी है, अतः **स्वान्यभेदगत स्थूल सूक्ष्म अव्यपेत अस्थान यमक** है।

३. पाद यमक

जहाँ वर्णसमुदाय की आवृत्ति प्रथम, द्वितीय आदि पादों में अपेक्षित होती है, वहाँ **पाद यमक** होता है। इसे तीन भागों में बाँटा जाता है—

(क) पादाभ्यास यमक

(ख) अर्धाभ्यास यमक

(ग) महायमक

द्विसन्धान-महाकाव्य में इनका विन्यास इस प्रकार हुआ है—

(क) पादाभ्यास यमक

जहाँ पद्य के एक-एक पाद को लेकर दो पादों में समानता लायी जाती है, वहाँ **पादाभ्यास यमक** होता है। भरत ने इस प्रकार के यमक को **विक्रान्त यमक** कहा है।[१] विभिन्न काव्यशास्त्रियों ने इसके विभिन्न भेद किये हैं। द्विसन्धान में विन्यस्त **पादाभ्यास यमक** निम्नलिखित हैं—

(i) प्रथम-तृतीय पादाभ्यास यमक

अत्र स्नुताधिकमनोजवधूतमाल-
पत्रप्रयुक्तकुसुमांजलिसिक्तमूर्तिः।
अत्र स्नुताधिकमनोजवधूतमाल-
माल्येन तेन सहितः स्वगृहं विवेश॥[२]

यहाँ प्रथम पाद की तृतीय में आवृत्ति हुई है, अतएव यहाँ **प्रथम-तृतीय पादाभ्यास यमक** है। रुद्रट ने इस प्रकार के यमक-विन्यास को **सन्दंश यमक** नाम दिया है। द्विसन्धान-महाकाव्य के अन्तिम सर्ग में इसका बाहुल्य है, अतः वहाँ पद्य

---

१. 'एकैकं पादमुत्क्षिप्य दौ पादौ सदृशौ यदा।
विक्रान्तयमकं नाम तज्ज्ञेयं नामतो यथा॥', ना.शा., १६.७२

२. द्विस., ८.५२